5505

दण्डिकालीन जन-जीवन

डॉ. सञ्जय कुमार



दण्डिकालीन जन-जीवन

डॉ0 सञ्जय कुमार

सपना अशोक प्रकाशन
3/552 रामपुर, रामनगर, वाराणसी-221008

प्रकाशक :
सपना अशोक प्रकाशन
3/552, रामपुर, रामनगर, वाराणसी-221008
मो0 : 09450010530, 9335745370

ISBN : 978-93-80344-02-7

© लेखकाधीन

संस्करण : प्रथम संस्करण,
2009

मूल्य : 400.00
(चार सौ रुपये मात्र)

शब्द संयोजक :
बबलू कम्प्यूटर, औरंगाबाद, वाराणसी
मो0-9918442770

निगेटिव :
भट्टाचार्या ग्राफिक्स
विवेकानन्द नगर, जगतगंज, वाराणसी
मो0 : 9839705314

मुद्रक : कावरा ऑफसेट
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी

शुभाशंसा

आचार्य दण्डी संस्कृत साहित्य के महान् कवि माने जाते हैं। इन्होंने अपनी कृतियों में तत्कालीन भारतीय जन-जीवन को हस्तामलकवत् किया है। इस सन्दर्भ में डॉ. सञ्जय कुमार ने 'दण्डिकालीन जन-जीवन' नामक पुस्तक लिखी है, वह भारतीय जीवन की मञ्जूषा के रूप में प्रस्तुत है। इसमें भारतीय जीवन के सांस्कृतिक उपागमों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, इसलिए उसमें तत्युगीन सामाजिक दशाओं का प्रतिबिम्ब परिलक्षित होना स्वाभाविक ही है। महाकवि दण्डी का सम्पूर्ण साहित्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है। पाठक जैसे-जैसे दण्डीसाहित्य का अनुशीलन करता जाता है, वैसे-वैसे उसके मानस पटल पर तत्कालीन समाज में प्रचलित सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक मान्यताओं का चित्र उभरता जाता है। यथा जन-जीवन में प्रचलित आचार-विचार, रहन-सहन, पूजा-विश्वास, उत्सव-महोत्सव, नृत्य-गीत इत्यादि।

इस ग्रन्थ में दण्डी की परम गद्यप्रियता के कारण संस्कृत गद्यसाहित्य के विकास का मूल्यांकन करते हुए संस्कृत साहित्य में कवि दण्डी का स्थान निर्धारित किया गया है तथा कृतियों के सन्दर्भ में उत्पन्न विवाद का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जन-जीवन का आधार भौगोलिक परिस्थितियाँ होती हैं, अतः विना इनके स्वरूप को रेखाङ्कित किये समकालीन जन-जीवन का चित्रण नही किया जा सकता है। प्रस्तुत कृति में सामाजिक-जीवन सांस्कृतिक-जीवन, धर्म-दर्शन, राजनीतिक-जीवन, आर्थिक जीवन, शिक्षा, साहित्य एवं कला आदि विषयों पर सारगर्भित रूप से प्रकाश डाला गया है। इसके अनुशीलन से दण्डिकालीन समाज के यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन किया जा सकता है।

भारतीय जन-जीवन का सम्यक् विश्लेषण एवं जीवन-दृष्टि का वास्तविक स्वरूप सर्वप्रथम प्राचीन काव्यों में देखने को मिलता है। पुनः पौराणिक युग के काव्यों में तत्पश्चात् लौकिक संस्कृत साहित्य में दृष्टिगत होता है। संस्कृत साहित्य जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डालने में समर्थ है। सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य विभाजन की दृष्टि से उसे चार वर्णों अथवा वर्गों में विभाजित कर उनके वर्ण धर्मों की विस्तृत व्याख्या की गयी है। सभी वर्णों को अपने दायित्त्वों के निर्वाह करने की स्वतन्त्रता थी। वर्ण-व्यवस्था प्राकृतिक थी, क्योंकि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में जिस परम पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, कटि से वैश्य एवं पैर से शूद्र की उत्पत्ति का सिद्धान्त व्याख्यायित किया गया है, वह प्रकृति पुरुष है। इसी प्रकृति पुरुष के

अङ्गों-प्रत्यङ्गों से विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वों (चन्द्रमा, सूर्य, वायु, अग्नि, जल, दिशा आदि) की उत्पत्ति भी बताई गयी है। कहने का अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, वायु, अग्नि, इन्द्र, उषा, वरुण, मित्र, अंतरिक्ष एवं दिशाएँ उसी परम पुरुष के ही अङ्ग स्वीकार किये गये हैं, अतः सम्पूर्णसृष्टि उसी परम पुरुष का व्यक्त रूप है। इसी जीवन-दृष्टि से भारतीय सांस्कृतिक तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप का हृदयङ्गम किया जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक के आद्योपान्त सम्यक् अनुशीलन के उपरान्त हम यह कह सकते हैं कि जो भी इस ग्रन्थ का अध्ययन करेगा उसको दण्डिकालीन जन-जीवन को समझने में सहायता तो मिलेगी ही और साथ ही साथ एक नूतन दृष्टि भी प्राप्त होगी, जिसके आधार पर भारतीय साहित्य के स्वरूप का सम्यक् अध्ययन किया जा सकेगा।

लेखक विद्यार्थी जीवन से ही मेरे सानिध्य में रहा है। जिज्ञासु प्रवृत्ति होने के कारण प्रायः इसकी अन्य शोधार्थियों से भिन्न कार्य-शैली रही है। दण्डिकालीन जन-जीवन पर इतनी गम्भीर, सूक्ष्म एवं पुखांनुपुंख विचारणा अन्यत्र हुई है, यह कहना मेरी दृष्टि में कठिन है। लेखक अपने लक्ष्य सिद्धि में सर्वथा सफल हुआ है। लेखक की समीक्षात्मक क्षमता तथा निर्णय शक्ति का प्रदर्शन यहाँ सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, ग्रन्थ की भाषा तथा शैली विषयोपपादन में पूर्ण सक्षम है तथा यह विषय प्रवर्तन की दृष्टि से उत्कृष्ट कार्य है।

प्रभु को यह मंगलमय सारस्वत अनुष्ठान प्रिय हो।

दिनाङ्क- 21.02.2009

पर्णदत्तसिंह

प्रो. पर्णदत्त सिंह
अध्यक्ष
संस्कृत विभाग, कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

PROF. SUKADEV BHOI
(President Awardee)
Dean, Faculty of Sahitya & Sanskrit
Head, Department of Sahitya

Shri Lal Bahadur Shastri Rastriya Sanskrit Vidyapeeth (Deemed University)
Qtab Institutional Area, New Delhi - 110016
Ph.No.- 011-46060624
e-mail- profsukdevbhoi@yahoo.com

आशीर्वचन

महाकवि दण्डी अपने अनुपम ग्रन्थ 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में भारतीय जन-जीवन के आदर्श स्वरूप को बिना किसी बनावट के साथ चित्रित किया है। उन्होंने समाज के साधारण वर्ग से लेकर उच्च वर्ग के राजकुमारादि के वैविध्यपूर्ण जीवन का सुन्दर एवं सुस्पष्ट वर्णन कर संस्कृत साहित्य को नवलप्रकाश पुञ्ज से अलङ्कृत कर दिया है। कवि दण्डी को चूँकि अनेक राजाओं के राज्याश्रय में रहने का सौभाग्य प्राप्त था तथापि उन्होंने अपने को दरबारी जीवन से दूर रखा और जन-सामान्य के परिवेश का वर्णन करना अपना मूल विषय बनाया। वे जनता के हर्ष और विषाद, सुख और दुःख तथा आनन्द और वेदना का अत्यन्त समीप से निरीक्षण किये थे, फलस्वरूप उन्होंने अपनी रचनाओं में तत्कालीन लोकजीवन के यथार्थवाद का पूर्ण प्रतिबिम्बन किया है। वे समाज में व्याप्त छल-प्रपञ्च, सत्य-असत्य आदि का सजीव वर्णन करते हैं। दण्डिकालीन जन-जीवन अपनी विलक्षणता के कारण प्रारम्भ से पाठकों के लिए आकर्षक और रञ्जक रहा है।

डॉ. सञ्जय कुमार ने अपने ग्रन्थ 'दण्डिकालीन जन-जीवन' में दण्डी के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व के साथ-साथ तत्कालीन जन-जीवन को प्रकाश में लाने का सराहनीय कार्य किया है। यह दण्डी एवं उनके समाज से पूर्ण परिचित होने के लिए अत्यन्त उपादेय है। इस ग्रन्थ के नूतन गवेषणापूर्ण दृष्टि से पाठकों का रञ्जन एवं शोधार्थियों का मार्ग प्रशस्त होगा। डॉ. सञ्जय कुमार मेरा अत्यन्त प्रिय और परिश्रमी छात्र रहा है। प्रारम्भ से ही तत्त्वान्वेषण में यह अन्य विद्यार्थियों से भिन्न उत्कट अभिलाषा रखता था। मैं इसकी सारस्वत साधना और उज्ज्वल भविष्य की सर्वविध मङ्गलकामना करते हुए श्री विश्वेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि उसका जीवन खुशहाल और मङ्गलमय हो। मेरा यह विश्वास है कि विद्वानों के मध्य इस नितान्त उपादेय ग्रन्थ का सहानुभूति तथा आदर के साथ स्वागत किया जाएगा।

दिनाङ्क- 23/02/09

(डॉ. शुकदेव भोइ)

आत्मनिवेदन

साहित्य अतीत को वर्तमान से जोड़ने वाली स्वर्णमयी शृङ्खला है। विश्ववाङ्मय में संस्कृतसाहित्य का अनुपम स्थान है। महाकवि दण्डी संस्कृतसाहित्य के महान् कवियों में से एक हैं। इन्होंने अपनी लेखनी से संस्कृतसाहित्य को समृद्ध किया है। दण्डी का साहित्य तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थाओं के परिज्ञान के लिए प्रकाश-स्तम्भ है। इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, दार्शनिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। कविदण्डी अपनी अनुपम काव्यशैली, प्रवाहमयी प्राञ्जलभाषा एवं पदलालित्य से अध्येताओं का चित्ताकर्षण तथा नित्यनवता व स्फूर्ति का सञ्चार करते रहे हैं। काव्य की महनीयता को वे भली-भाँति समझते हैं, इसीलिए उन्होंने काव्य-प्रयोजन के रूप में लिखा है कि -

'आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति॥'

(काव्यादर्श 1-5)

अर्थात् प्राचीन राजाओं का यश रूपी बिम्ब वाङ्मय रूपी दर्पण को प्राप्त करके आज उन राजाओं के अस्तित्व न होने पर भी विनाश को प्राप्त नही हो रहा है। यह स्वयं तुम देख लो।

कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तुतः जो लोग इहलीला समाप्त कर कालकवलित हो गये हैं, उनका यशरूप बिम्ब शब्दरूपी दर्पण में आज भी प्रतिबिम्ब रूप में भासमान हो रहा है। लोक में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का साधारण धर्म यही है- यावत्कालपर्यन्त विम्ब सम्मुखावस्थित रहता है तावत्काल पर्यन्त ही दर्पणादि में प्रतिबिम्बित हुआ करता है। बिम्बापाय हो जाने पर प्रतिबिम्ब भी अपाय हो जाता है। परन्तु शब्दरूपी दर्पण में प्राक्तन लोगों के यश-अपयश रूप बिम्ब का प्रतिबिम्ब बिम्बापाय हो जाने पर भी प्रतिविम्बात्मना भासमान ही रहता है, नष्ट नहीं होता है। फलस्वरूप काव्य में जिस तथ्य का उल्लेख हो जाता है वह शाश्वत हो जाता है।

कवि जिस समाज या परिवेश में रहता है उस परिवेश का प्रभाव भी उसके कृतियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वह अपने सामाजिक व्यवहार से अलग होकर काव्यसृष्टि नहीं कर सकता है। जो लोक में है वही शास्त्र बनता है। व्याकरण के सूत्र जो आज उपलब्ध हैं वे पहले के लोक-व्यवहार पर ही आधारित रहे हैं। इस प्रकार कवि जो सृष्टि करता है उसमें निश्चित रूप से उसके सामाजिक परिवेश का

वर्णन स्वतः हो जाता है। इसी आधार पर दण्डिकालीन जन-जीवन को जानने के लिए मुख्य रूप से उनकी कृति दशकुमारचरित एवं अवन्तिसुन्दरी का आश्रय लिया गया है।

जीवन का अर्थ व्यष्टि और समष्टि में घटित घटनाओं और विचारों का देश-काल की परिधि में अध्ययन है। जीवन का अध्ययन एकाङ्गी और अपूर्ण है, उसे व्यापक और पूर्ण तभी बनाया जा सकता जब जीवन की संरचना एक वैचारिक- परम्परा से जुड़ी हो। वैचारिकपरम्परा के आधार रूप में वे सांस्कृतिकतत्त्व काम करते हैं जो किसी युग को विशिष्ट बनाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में दण्डिकालीन सांस्कृतिक तत्त्वों के व्यापक और विशिष्ट स्वरूप को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। भारतीय जीवनप्रणाली में त्याग का विशेष महत्त्व बतलाया जाता है, त्याग ही जीवन का नियामक है। इसके विना जीवन सही अर्थ में जीवन नहीं है। ईशावास्योपनिषद् का यही उद्घोष भारतीयजीवन के आदर्शात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करता है-

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

(ईशावास्योपनिषद्-1)

अर्थात् उस ईश्वर के द्वारा प्रदत्त पदार्थों का त्यागपूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए भोग करो। किसी के धन की इच्छा मत करो। इस आदर्श की सङ्कल्पना हमारे प्राचीनमंहर्षियों में विद्यमान थी। भारतीयसाहित्य भी इसका प्रशंसक था। सम्पूर्ण चराचर जगत् में ईश्वर का दर्शन करने का उद्देश्य सभी जीवों में समभाव की भावना उत्पन्न करना है जिससे किसी के प्रति कोई राग-द्वेष न रहे। जीवों में दया की भावना व्याप्त रहे। सबका आपसी सहयोग रहे। जीवन में समानता का पाठ पढ़ा जाता है। इसमें सभी लोग एक है। सभी परम पुरुष के ही सन्तान हैं। सम्पूर्णजीव जगत् उसी परम-पुरुष का व्यक्त स्वरूप है। ईश्वर की सृष्टि में विभेद की भावना का जन्म कहाँ से सम्भव है? सभी ईश्वर की सन्तान हैं। इसी अर्थ में जीवन को समझना चाहिए। विश्व की सभी संस्कृतियों की मीमांसा मानव समाजशास्त्रियों द्वारा की जाती रही है। उनकी राय में संसार के सब देशों तथा कालों की मानव-जाति के आरम्भ से ही सब प्रकार की संस्कृतियों के बाह्य स्वरूप में यद्यपि भिन्नता है फिर भी मौलिक दृष्टिकोण से यह है कि भाषा, धर्म, कला, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र समाजसङ्गठन का तन्त्र आदि का अलग-अलग अध्ययन करते हुए प्रत्येक के सम्बन्ध में एक साधारण प्रक्रिया को निश्चित करना सम्भव होता है। उदाहरण रूप में भाषा की उत्पत्ति तथा विकास की प्रक्रिया को निश्चित करते हुए मूल बर्बर अवस्था से लेकर अत्यन्त उन्नत अवस्था

में व्यक्त स्वरूप प्राप्त होने तक संसार की नवीनभाषाओं का पृथक्करणात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन करना पड़ता है और उसी से एक ही भाषाशास्त्र का तथा भाषा के एक तत्त्वज्ञान का निर्माण होता है। धर्म, समाज, कला, विज्ञान, अर्थ, राज सङ्गठन के तन्त्र आदि से सम्बन्धित प्रत्येक शास्त्र तथा तत्वज्ञान पर यही तथ्य लागू होता है। यद्यपि प्रत्येकभाषा, प्रत्येकधर्म, प्रत्येकजाति अथवा प्रत्येकसंस्कृति अपने-अपने स्वरूप में भिन्न दिखायी देती है फिर भी सभी भाषाएं, सभी धर्म, सभी जातियाँ तथा सभी संस्कृतियां अन्ततोगत्वा एक साधारण मानवसंस्कृति के ही विशेष आविष्कार हैं। यह सत्य है कि प्रत्येक संस्कृति की रचना स्वतन्त्र हुआ करती है परन्तु प्रत्येक विशाल नदी के रूप में उसका साधारण धर्म एक है, वह नदी है। ठीक उसी प्रकार संस्कृतियों का साधारण धर्म एक ही है। प्रत्येक मानव भले ही अलग-अलग हो, फिर भी उसका साधारण रूप अर्थात् मानवप्रकृति तो सब जगह एक ही है। सभी मानव है। सभी जीवन हैं। इसी जीवन-दृष्टि के आलोक में तत्कालीन जीवन को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। फलतः इस तरह सांस्कृतिक तत्त्वों के रूप में भौगोलिक स्वरूप, सामाजिक व्यवस्था, धर्म-दर्शन, सांस्कृतिक जीवन, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के साथ-साथ शिक्षा, साहित्य एवं कला के सन्दर्भ पर अतिविस्तार से गवेषणात्मक चर्चा की गयी है।

उक्त वर्णन से तत्कालीन जन-जीवन का एक आकर्षक स्वरूप उभर कर सामने आता है। आचार्य दण्डी के साहित्य में जन-साधारण से लेकर राजकुमारों तक के अत्यन्त साहसिक क्रिया-कलापों, यात्राओं, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, जय-पराजय, राग-द्वेष, हर्ष-विषाद, लाभ-हानि आदि से पूर्ण है। कवि दण्डी ने भी अपनी कृतियों में समाज के उसी स्वरूप का वर्णन किया है जिसको स्वयं अपने आखों से देखा है। उन्होंने चोरी, हत्या, बदमाशी, जुआ, डाकाजनी, पाखण्डी साधुओं का पाखण्ड, घमण्डियों का घमण्ड, कामान्धों का जीवनवृत्त, वेश्याओं की वाक् पटुता और उनकी मनमोहकता आदि के साथ ही साथ अनेक धार्मिक विधि-विधानों एवं लोक प्रचलित विश्वासों का बड़ा ही सहज भाव से चित्रण किया है, जो जीवन की अभिवृद्धि, सुख-समृद्धि, पुत्र-पौत्र-पत्नी एवं आरोग्य सुख की इच्छा 'जीवेम शरदः शतम्' के रूप में व्यक्त करती है।

इस ग्रन्थ की सम्पूर्ति के लिए सात अध्यायों का सृजन किया गया है। प्रारम्भ में विषय प्रवेश रूप में संस्कृत गद्य का विकास और दण्डी के व्यक्तित्त्व कृतित्त्व को दिया गया है। प्रथम अध्याय में भौगोलिक-स्वरूप को दर्शाया गया है, तत्पश्चात् सामाजिक- जीवन को द्वितीय अध्याय के लिए चयनित किया गया है। तृतीर्य अध्याय

धर्म-दर्शन के रूप में विद्यमान है। चतुर्थ अध्याय सांस्कृतिक-जीवन की अभिव्यक्ति करने वाला है। पञ्चम अध्याय राजनीतिक-जीवन को स्पष्ट करता है। षष्ठ अध्याय आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालता है और सप्तम अध्याय में शिक्षा, साहित्य एवं कला का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् सम्पूर्ण ग्रन्थ का सारांश दिया गया है और अन्त में आठवीं शताब्दी के कुछ चित्र अङ्कित किये गये हैं जिनसे तत्कालीन कलात्मकता का परिचय मिलता है।

यह ग्रन्थ लगभग दो साल के अथक प्रयास से लिखा गया है। फलस्वरूप इसके पूर्ण होने से मैं बहुत आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। इसकी सम्पूर्ति में ईश्वर ही परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सहायक रहे हैं, मैं उनके चरणों में सर्वप्रथम कोटिशः प्रणाम करता हूँ। जीवन के सभी पक्षों के प्रदर्शक मेरे आदर्श गुरुवर प्रो० पर्णदत्त सिंह, प्रो० शुकदेव भोइ, प्रो० लालजी श्रावक, एवं डॉ० गोपाल लाल मीणा सदैव अपने ज्ञान से मुझे अभिसिञ्चित करते रहें। आप लोग मेरे पूजनीय हैं। आप सभी गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मात्र औपचारिकता होगी।

इस ग्रन्थ की सम्पूर्ति में विशेष योगदान देने वाले डॉ० झिनकू यादव, डॉ० शिवशंकर सिंह यादव एवं डॉ० अमलधारी सिंह मूर्तित्रिय की भाँति मेरा उत्साहवर्धन करते रहे। इन तीनों मुनियों से मैंने जो कुछ पाया उसी से मेरे मन में भी कुछ चमक उठी और मुझे लिखने की इच्छा हुई। सब प्रमाद और स्खलन मेरे अपने हैं परन्तु यदि कहीं कोई अच्छाई है तो वह इन तीनों मुनियों का अनुभाव ही है। मेरे हृदय में आपलोगों के प्रति सदा गम्भीर कृतज्ञता के भाव हैं।

इस ग्रन्थ के मांगलिक समापन के अवसर पर पूज्य पिता श्री शंकर सिंह यादव एवं पूजनीया माता श्रीमती सुदामी सिंह यादव, अग्रज श्री हीरालाल सिंह यादव, श्री हरिशंकर सिंह यादव एवं पितृव्य डॉ० महेश सिंह यादव का निरन्तर सहयोग व प्रोत्साहन तथा सहानुभूति प्राप्त होती रही। आपलोगों का स्नेहासिक्त आशीर्वाद ही मेरा पाथेय बना। आप सभी का मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ। मेरे अग्रज कल्प डॉ० बालेश्वर प्रसाद यादव, डॉ० महेन्द्र यादव एवं मित्र श्री लालबहादुर, श्री चन्दनलाल गुप्त, श्री तेजनाथ पौडेल, श्री शैलेन्द्र कुमार यादव, श्री सुरेश यादव, श्री अभिनेश्वर सिंह धन्यवाद के पात्र हैं जो निरन्तर इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये मुझे प्रेरित करते रहे हैं। आप लोग सदैव मेरे अन्य प्रकाशनों की भूरि-भूरि प्रशंसा करके सदैव मेरे लेखन कार्य में मेरा उत्साहवर्धन किया है, अतः आप सबका मैं कृतज्ञ हूँ।

सपना अशोक प्रकाशन के श्री अशोक कुमार घोष जी का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने सहजतापूर्वक इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की संस्तुति प्रदान की। टङ्कण

कार्य के लिए श्री राहुल एवं दिलीप के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने बड़े ही मनोयोगपूर्वक इसका स्वरूप आकर्षक बनाया।

इस ग्रन्थ के परिप्रेक्ष्य में मैं जानता हूँ कि अल्पज्ञता, दृष्टिदोष, पूर्वाग्रह तथा अन्य कारणों से इस विषय के विवेचन में अनेक दोष रह गये होंगे जिसे विषय-विशेषज्ञ मुझ जिज्ञासु को क्षमा करते हुए इसका अवलोकन करेंगे। इस ग्रन्थ को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मैं सुखानुभूति कर रहा हूँ तथा यह कामना करता हूँ कि मेरा यह श्रम आप सुधीजनों को संतोष प्रदान करे क्योंकि -

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

दिनाङ्क : 19.2.2009

सञ्जय कुमार

सङ्केत-सूची

अ.श.वि.वि.	-	अनन्त शयन विश्वविद्यालय
कृ.दा.अ.	-	कृष्ण दास अकादमी
चौ.अ.भा.प्र.	-	चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन
चौ.ओ.	-	चौखम्भा ओरियन्टल
चौ.सं.सं.	-	चौखम्भा संस्कृत संस्थान
चौ.सं.भ.	-	चौखम्भा संस्कृत भवन
चौ.सं.सी.आ.	-	चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस
चौ.वि.भ.	-	चौखम्भा विद्या भवन
मे.च.ल.दा.प.	-	मेहर चन्द लछमन दास पब्लिकेशन
भा.वि.प्र.	-	भारतीय विद्या प्रकाशन
मो.ला.ब.	-	मोती लाल बनारसीदास

विषय-सूची

❑❑❑

विषयप्रवेश

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।[1]

आनन्दवर्धनाचार्य का यह श्लोक कवि को स्वयं प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा और काव्यसंसार को उसकी सृष्टि बतलाया है। काव्यसंसार का निर्माता कवि होता है। उस कवि प्रजापति की इच्छा और स्वभाव से ही इस काव्यसंसार की रचना होती है। अतः कवि का गौरव स्वतः सिद्ध हो जाता है लेकिन कविसृष्टि के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद रहा है। आचार्य दण्डी[2] ने इष्ट अर्थ से युक्त पदसमुदाय को तथा मम्मट[3] ने अदोष, सगुण और प्रायः अलङ्कृत शब्दार्थ को काव्य माना है। आचार्य विश्वनाथ[4] ने रसात्मक काव्य और पण्डितराज जगन्नाथ[5] ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है, परन्तु सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में रस को मुख्य तत्त्व माना है। रस की निष्पत्ति के लिए ही कवि शब्द और अर्थ का विशिष्ट सन्निवेश प्रस्तुत करता है। उसका समस्त व्यापार रस के लिए ही समर्पित होता है। रसपरिपाक के लिए काव्य के शब्दार्थ का दोष–रहित और गुणसहित होना आवश्यक है। रसानुकूल शब्द योजना रीति कहलाती है, जो रमणियार्थ का प्रतिपपादन करती है। अर्थ की रमणीयता के लिए ही कवि अलङ्कारों का प्रयोग करता है। जिस प्रकार किसी रमणी का लावण्य अलङ्कारों से और अधिक प्रिय लगने लगता है उसी प्रकार काव्य की चारूता अलङ्कारों से और अधिक बढ़ जाती है। अतः काव्य इसी लक्ष्य का महान् सोपान है। उस काव्य को भारतीय मनीषियों ने दो भागों में विभाजित किया है[6]– दृश्य और श्रव्य।

जिसमें अभिनय किया जाय उसे दृश्य काव्य कहा जाता है अर्थात् जो नेत्रों का सहारा लेकर हृदय को आह्लादित करे वह दृश्यकाव्य है। श्रव्यकाव्य में केवल श्रवण ही मुख्य है। वह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा रसिक के चित्त को आह्लादित करता है अतः

---

1. ध्वन्यालोक, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1998, तृतीय उद्योत, कारिका 43 की व्याख्या में।
2. काव्यादर्श, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1984, 1/10।
3. काव्यप्रकाश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2004, 1/4।
4. साहित्यदर्पण, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 2004, 1/3।
5. रसगङ्गाधर, साहित्य भण्डार मेरठ, 2004, प्रथम आनन. 1।
6. साहित्यदर्पण, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 2004, 1/3।

श्रव्यकाव्य का आस्वाद पठन–पाठन अथवा श्रवण से लिया जाता है। इसके तीन भेद किये गये हैं– गद्य, पद्य और मिश्र।[1]

संस्कृत गद्य का विकास-

मिश्रकाव्य वह होता है जिसमें गद्य एवं पद्य दोनों समान रूप से हो।[2] यहाँ ध्यातव्य है कि नाटक में भी गद्य एवं पद्य दोनों विद्यमान रहता है लेकिन नाटक में केवल पद्य ही सरस होते हैं तथा कही–कही कुछ गद्यात्मक सूक्तियाँ भी सरस होती हैं लेकिन मिश्रकाव्य में गद्य एवं पद्य दोनों का मञ्जुल सन्निवेश होता है। इसके गद्य एवं पद्य सर्वत्र सरसता लिये रहते हैं। मिश्रकाव्य को चम्पूकाव्य भी कहा जाता है। श्रव्यकाव्य का एक भेद पद्यकाव्य है, गत्यर्थक पद् धातु से निष्पन्न पद्य शब्द गति की प्रधानता सूचित करता है। इसलिए पद्यकाव्य में ताल, लय और छन्द की व्यवस्था आवश्यक होती है। पद्यकाव्य के तीन उपभेद किये गये हैं– महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तककाव्य। नैषध, शिशुपालवध, रघुवंश आदि सर्गबन्ध काव्य महाकाव्य माने जाते हैं। इनकी अपेक्षा कम विस्तार वाले एवं अल्पकथा वाले मेघदूत, ऋतुसंहार आदि खण्डकाव्य कहे जाते हैं और पूर्वापर सन्दर्भ की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं में ही परिपूर्ण पद्य मुक्तककाव्य की कोटि में आते हैं जैसे– अमरुक-शतक, भर्तृहरि–शतक इत्यादि। पद्यकाव्य से भिन्न गद्यकाव्य में छन्द की व्यवस्था नहीं होती है। आचार्य दण्डी ने गद्य की परिभाषा एवं भेद करते हुए लिखा है–

अपादः पदसन्तानों गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोशख्यायिका किल ।।[3]

अर्थात् गण, मात्रा, यति आदि उपबन्धों से मुक्त शब्दसमूह की रचना को गद्य कहा जाता है। उसके दो भेद है– कथा और आख्यायिका।

वैसे भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो पद्य से पहले गद्य का स्थान आता है, गद्य से ही साधारण लोक–व्यवहार चलता है। काव्यरचना तभी सम्भव है जब अनुभूति संवेदात्मक बन जाती है। गद्य का प्रारम्भिक स्वरूप हमें वैदिक युग से ही मिलता है। पद्य और गद्य का पारिभाषिक शब्द ऋच् (ऋक्) और यजुष् है। ऋक् उसे कहते हैं जिस रचना में अर्थ के अनुसार पाद की व्यवस्था होती है।[4] इस प्रकार पद्यात्मक मन्त्रों का संग्रह ऋग्वेद है। जब ऋग्वेद की ऋचाएँ गेय हो जाती है तब साम कहलाती

---

1. काव्यादर्श, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1984, 1/11।
2. वही, 1/31।
3. वही, 1/23।
4. पूर्वमीमांसा, बी.एच.यू., वाराणसी, 1964, 2/1/35 – 'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पाद व्यवस्था'।

है[1] और इन दोनों से भिन्न छन्दरहित वैदिक मन्त्रों को यजुष् कहा जाता है।[2] संस्कृत गद्य की अपनी एक विशेषता है। इसका प्रयोग वैदिक काल से ही होता चला आ रहा है। पद्य से मिश्रित होने के कारण ही कृष्णयजुर्वेद का कृष्णत्व है।[3] इसके तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी संहिताओं का अधिकांश भाग गद्यात्मक ही है। शुक्लयजुर्वेद में भी गद्य की छटा अवलोकनीय है।[4] हमारी सम्पूर्ण यज्ञ–प्रक्रिया गद्य में ही वर्णित है। अथर्ववेद में गद्य का अधिकाधिक दर्शन होता है। वेदों के व्याख्या ग्रन्थ जिन्हें ब्राह्मण कहा जाता है वे भी सरल सुबोध गद्यमय ही हैं। गद्यात्मक अंश के लिए विशेष उल्लेखनीय शतपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय और गोपथ ब्राह्मण हैं।[5] इन ब्राह्मणग्रन्थों में पुराकथा की सामग्री मिलने से उसकी गरिमा और बढ़ जाती है। ब्राह्मणग्रन्थों के पश्चात् आरण्यक आता है। इसका ऐतरेय आरण्यक तथा तैत्तिरीय आरण्यक गद्य के लिए विशेष उल्लेखनीय है। उपनिषदों में भी केन, प्रश्न, माण्डूक्य, तैत्तिरिय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि, मैत्रायणी आदि में गद्य भाग का सर्वत्र दर्शन होता है। इस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में गद्य का प्रयोग बहुत ही व्यापक, उदार तथा उदात्त रूप से हुआ है।

सूत्र-वाङ्मय में गद्य का एक अद्भुत स्वरूप मिलता है। इसके रचना का उद्देश्य उपलब्ध दीर्घकाय ग्रन्थों के सारभाग अथवा तात्पर्यों को सूत्रों में लिपिबद्ध करना था। प्रत्येक वैदिक शाखा के कल्पसूत्रों का दो विभाग– श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र, संस्कृत गद्य की सूत्रशैली में ही सूत्रित है। श्रौतसूत्र में वैदिक यज्ञप्रक्रिया का वर्णन है तथा गृह्यसूत्र में गृह–परिवार के दैनन्दिन जीवन की धार्मिक विधियों एवं विवाहादि संस्कारों का प्रतिपादन है। कल्पसूत्र के तृतीय भाग–धर्मसूत्र में पद्यमिश्रित गद्य के दर्शन होते हैं। कालान्तर में भारतीय दर्शन के विविध प्रस्थान, वैदिक निवर्चनशास्त्र अर्थात् निरुक्त, व्याकरणशास्त्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी आदि भी इसी सूत्रशैली में लिखे गये हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी प्रायः इसी शैली में लिखा हुआ है। जिसका विषय–प्रतिपादन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की तुलना में कहीं अधिक शुद्ध है। इसका प्रत्येक प्रकरण पद्यान्त

1. पूर्वमीमांसा, बी.एच.यू., वाराणसी, 1964, 2/1/36 – गीतिषु सामाख्या।
2. वही, 2/1/37 – शेषे यजुःशब्दः।
3. त्रिपाठी रमाशंकर, संस्कृतसाहित्य का प्रामाणिक इतिहास, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1996, पृ0 218।
4. शुक्ल यजुर्वेद, मो.ला.व.दा. वाराणसी, 1971, 1/11–31, 8/53–60, 11/58/61, 13/53–58, 14/16–31, 15/4–15, 16/17–96, 18/1–29, 21/30–47, 22/19–34, 24 सम्पूर्ण अध्याय, 25/1–9, 30/5–22/39 सम्पूर्ण अध्याय।
5. द्विवेदी कपिलदेव, संस्कृतसाहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, रामनारायण विजय कुमार, इलाहाबाद, 2004, पृ. 457।

गद्य से ही निर्मित है। शैली तथा बाह्य स्वरूप की दृष्टि से वात्स्यायन का कामसूत्र भी अर्थशास्त्र से मिलता-जुलता है।

इन सूत्रग्रन्थों की दुर्बोधता को दूर करने के लिए अनेक भाष्य एवं भाष्यकारों का जन्म हुआ। इन भाष्यकारों में यास्क का निरुक्त, जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी, शबरस्वामी का मीमांसाभाष्य,[1] शंकराचार्य का शारीरिकभाष्य आदि बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों के प्रसिद्धि का कारण मात्र इनकी सरलता और सरसता ही है।

वैदिक गद्य तथा लौकिक गद्यों के जोड़ का कार्य पौराणिक गद्य करता है। यह गद्य नितान्त अलङ्कारिक तथा प्रासादिक शैली में निबद्ध है। श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण का गद्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।[2] इन ग्रन्थों में गद्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य वर्तमान हैं। विष्णुपुराण का गद्य अतिसरल है लेकिन भागवतपुराण का नितान्त प्रौढ़, अलङ्कृत तथा भावाभिव्यञ्जक है। पालि, प्राकृत तथा संस्कृत के उत्कीर्ण अभिलेखों में भी गद्य के रमणीय स्वरूप का दर्शन होता है। ये अभिलेख हमें विविध ऐतिहासिक अवदानों की सूचना देने के साथ-साथ गद्यशैली की जीवन्तता को प्रकाशित करते हैं। पश्चिमी भारत के प्रसद्धि क्षत्रप रुद्रदामन के गिरनार स्थित शिलालेख[3] को पढ़ने से पता चलता है कि उस समय तक अलङ्कृत गद्यशैली का पर्याप्त विकास हो चुका था। कविवर हरिषेण रचित समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति शिलालेख की गद्यभाषा से प्रतीत होता है कि उस समय तक गद्यशैली का एक निश्चित रूप में निखार आ चुका था जिसमें दीर्घ समासयोजना, भाषालङ्कार, वर्णाढ्य- वर्णन एवं कथानक की कमनीयता आदि गुण समाहित थे।

शास्त्रीय गद्य के साथ ही साथ एक अन्य प्रकार के गद्य का विकास हुआ, जिसे हम लौकिक संस्कृत एवं ब्राह्मणकालीन गद्य का संधि स्थल कह सकते हैं। महाभारत में कदाचित् और क्वचिद् इस प्रकार का सरल गद्य परिलक्षित होता है। पतञ्जलि का महाभाष्य भी सरल तथा सुबोध व्यासशैली में ही लिखा गया है। महाभाष्य को पढ़ने से तो ऐसा लगता है कि मानों उपाध्याय और अध्येता दोनों आमने-सामने बैठकर प्रश्नोत्तर-शैली द्वारा अभीष्ट शास्त्रीय प्रतिपादन कर रहे हों।[4] जैन एवं बौद्ध

1. विष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2063, 4/13/4।
2. शबरस्वामी कर्ममीमांसा, 1/1/15।
3. रुद्रदामन का गिरनार शिलालेख, 150ई0।
4. महाभाष्य, प्रथम पस्पशाह्निक, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1998, पृ. 63-64- ये पुनः कर्याभावा निर्वृत्तौ तावत् तेषां यत्नः क्रियते। तद् यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह- कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामिति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह- कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। तावन्त्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुज्यते।

ग्रन्थों में भावव्यञ्जनामय गद्यशैली का प्रयोग तत्कालीन जनता में गद्यभाषा के प्रचुर-प्रचार एवं व्यवहार का परिचायक है। यद्यपि इन ग्रन्थों की भाषा पाली और अर्धमागधी है, तथापि इनमें प्रयुक्त सरल वर्णनात्मक गद्य से यह लक्षित होता है कि कदाचित् संस्कृत में भी उसी प्रकार की सरल गद्यभाषा का प्रचार रहा होगा और इस प्रकार इन धार्मिक ग्रन्थों का भी प्रभाव संस्कृतगद्य शैली के विकास पर पड़ा होगा। कालान्तर में बौद्धों ने भी संस्कृत भाषा को अपनाया और **'ललितविस्तर'** तथा **'दिव्यावदान'** जैसे रमणीय गद्यग्रन्थों की रचना किया, जिनमें बीच-बीच में पद्य का भी पुट है। इन दोनों ग्रन्थों में परवर्ती संस्कृतगद्य का लक्षण सुस्पष्ट रूप से अंकित है।

संस्कृत में गद्यात्मक कथाओं का उदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था।[1] कात्यायन (350 ई0पू0) ने वार्तिक में आख्यानक और आख्यायिका का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है[2] कि आख्यानक काल्पनिक कथा होती है और आख्यायिका व्यक्तिमूलक या ऐतिहासिक कथा होती है। महर्षि पतञ्जलि ने यवक्रीत, प्रियङ्गु तथा ययाति आदि को आख्यानों के तथा वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी आदि को आख्यायिका के उदाहरण स्वरूप नाम का निर्देश किया है।[3] बाणभट्ट ने हर्षचरित की भूमिका में महाकवि गुणाढ्यकृत बृहत्कथा का नामोल्लेख किया है,[4] और गुणाढ्य का समय 78 ई0 के आस-पास माना जाता है। इस प्रकार यह परवर्ती कथा-साहित्य का आधार ग्रन्थ रहा है।

संस्कृत साहित्य में समास बहुल अलंकृत एवं काव्यात्मक गद्य का विकास कब और कैसे हुआ, यह निश्चित रूप से कह पाना तो दुष्कर है, लेकिन इन शैलियों में गद्य काव्य का सर्वप्रथम दर्शन सुबन्धु, बाण और दण्डी की कृतियों में उपलब्ध होता है। इन कवियों की कृतियों में गद्य का पूर्ण विकास दिखलायी पड़ता है अतः अलङ्कृत गद्य का प्रारम्भ भी इनसे पूर्व हो चुका रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। सुबन्धु, बाण और दण्डी तीनों संस्कृत गद्य साहित्य के क्षेत्र में रत्नत्रयी माने जाते हैं। इनमें बाण और दण्डी ने कथा और आख्यायिका दोनों विधाओं पर लेखनी चलायी है किन्तु सुबन्धु ने केवल कथा विधा को ही अपनी रचना का विषय बनाया है।

1. उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1992, पृ. 383।
2. वार्तिक, अष्टाध्यायी, श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 1968, सूत्र 4-2-60- आख्यानाध्यायिकेतिहासं पुराणेभ्यश्च।
3. महाभाष्य, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1998, 4/3/87 - अधिकृत्यकृते ग्रन्थे बहुलं लुग् वक्तव्यः। वासवदत्ता, सुमनोत्तरा। न च भवति भैमरथी।
4. हर्षचरित, कृ.दा.अ. वाराणसी, भूमिका, श्लोक 16- हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा।

इन गद्य लेखकों की रचनाओं का आधार लोक-कथाएँ होती थी। काव्योपयुक्त वातावरण की सृष्टि के लिए इन कवियों ने प्रायः प्रणय-गाथा को ही चुना, परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रणय कथा के कथांश की अपेक्षा इनका वर्णन शैली पर अधिक ध्यान परिलक्षित होता है। संस्कृत गद्यकाव्यों की यह शैली जिस काव्य में सर्वप्रथम दिखलायी पड़ी है वह सुबन्धु की वासवदत्ता है। वासवदत्ता एक ऐसी रचना है जिसमें गद्य की सम्पूर्ण विशेषताओं को समाहित किया गया है। इसी आधार पर अनेक विद्वानों का मानना है कि सुबन्धु की वासवदत्ता दण्डी और बाण की रचनाओं के बाद की रचना है। डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार डॉ0 कीथ, डॉ0 एस0के0 डे और डॉ0 काणे आदि सुबन्धु को बाण से पूर्ववर्ती मानते हैं तथा डॉ0 पीटर्सन आदि बाण को सुबन्धु से पूर्ववर्ती मानते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि दण्डी, सुबन्धु और बाण ये तीनों गद्यकार 550 ई0 से 700 ई0 के मध्य हुए हैं। अतः बहुत थोड़े से अन्तर से ये प्रायः सम–सामयिक हैं। फिर भी काव्यशैली, गद्यशैली विकास आदि की दृष्टि से सुबन्धु, बाण और दण्डी यह क्रम माना जाता है। लेकिन इन प्रमाणों से कोई स्पष्ट निष्कर्ष नही निकाला जा सकता, अतः इनके पौर्वा–पर्व के सम्बन्ध में अभी और खोज की आवश्यकता है। महाकवि दण्डी का दशकुमारचरित और अवन्तिसुन्दरी कथा, सुबन्धु की वासवदत्ता और बाणभट्ट की कादम्बरी और हर्षचरित अलङ्कृत गद्य के सोपान माने गये हैं। इनमें से दशकुमारचरित, वासवदत्ता और कादम्बरी गद्य श्रेष्ठ होने के कारण गद्यत्रयी के नाम से जाने जाते हैं। इन कवियों के परवर्ती गद्य की भी एक लम्बी परम्परा चली आ रही है जैसे– धनपाल कृत तिलकमञ्जरी, समय 1000 ई0। वादीभसिंह कृत गद्यचिन्तामणि, वामनभट्टबाण कृत वेमभूपाल चरित, समय 1500 ई0। अम्बिकादत्त व्यास कृत शिवराजविजयम्, समय 1858–1955 ई0। विश्वेश्वरपाण्डेय कृत मन्दारमञ्जरी। हृषीकेशभट्टाचार्यकृत निबन्धों का संग्रह प्रबन्धमञ्जरी, पण्डित क्षमाराव कृत कथा मुक्तवाली तथा डॉ0 रामशरण त्रिपाठी कृत कौमुदी कथा कल्लोलिनी आदि विशेष प्रसिद्ध गद्य रचनाएं हैं।

संस्कृत कला कौस्तुभ के मुकुटमणि आचार्य दण्डी के साहित्य से सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय आप्यायित है। शब्दों की कलात्मक वाटिका सजाने वाले कवि दण्डी का भाषा पर असाधारण अधिकार है, पदसमूह वंशपद अनुचर की भांति इनका अनुगमन करते हैं। विषयवस्तु का चमत्कार हृदय को अभिभूत कर देता है। कोमल–कान्त पदावली वाले कवि दण्डी विषयवस्तु के अनुरूप ही शब्दों का चयन करते हैं। संस्कृत-गद्य-साहित्यमाला में इन्हें मध्यमणि का स्थान प्राप्त है। ऐसे वैविध्य प्रतिभा वाले कवि दण्डी के जीवनवृत्त पर प्रकाश डाला जा रहा है –

कवि दण्डी का जीवन–परिचय –

अन्य महाकवियों के समान महाकवि दण्डी के भी जीवन–चरित के सम्बन्ध में अभाव ही है। उनके जीवन–चरित के संबन्ध में जो भी जानकारी प्राप्त होती है उसका एक मात्र आधार उनकी कृति 'अवन्तिसुन्दरी' है। इसके आरम्भ में महाकवि दण्डी ने हर्षचरित में बाणभट्ट के समान अपने वंश एवं जीवन–वृत्त के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है –

महाकवि दण्डी कौशिक गोत्रिय ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज भारत के पश्चिमोत्तर स्थित आनन्दपुर नामक नगर के निवासी थे। यहाँ से निकलकर इनके पूर्वज दक्षिण में मूलदेव द्वारा बसाये गये अचलपुर नामक नगर में आकर बस गये।[1] यह अचलपुर सम्भवतः नासिक्य में (वर्तमान नासिक) पड़ता था।[2] वहीं महान् याज्ञिक 'नारायणस्वामी' के घर एक बालक ने जन्म लिया, जिसका नाम 'दामोदरस्वामी' रखा गया। 'दामोदरस्वामी' प्रतिभाशाली कवि एवं महान भाषाविद् हुए, जो अपने युवावस्था में ही अनेक ललित काव्यों का प्रणयन किये।[3]

चन्द्र लाँछन युक्त दामोदरस्वामी ने महान् तेजस्वी कवि भारवि के अनुरोध पर महाराज 'विष्णुवर्धन' से मित्रता की।[4] पाठान्तर के चलते पहले कुछ विद्वानों ने भारवि और दामोदरस्वामी को एक ही व्यक्ति मानते थे परन्तु इसका समाधान देते हुए 'डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी' ने लिखा है– "जिस श्लोक के बल पर दण्डी के प्रपितामह दामोदरस्वामी को भारवि से अभिन्न बतलाया जाता था उस श्लोक का नवीन पाठ

---

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. 1954, पृ. 9 – अस्ति दिशि पश्चिमोत्तरस्यामार्यदेशशिखामणिरानन्दपुरं नाम ब्राह्मणानां महानावासः। ततो हि निस्सृता सरस्वतीव ब्रह्मलोकादगस्त्यमूर्तिरिव पीतोद्गीर्णगम्भीरशब्दसमुद्रा दक्षिणां दिशमनुगृह्णन्ती सकलकितवसिद्धान्तप्रपञ्चमूलेन मूलदेवेन सदयुरचलस्य कृते निवेशितमचलपुरं नाम गवप्रोदकपुष्पवासितकलमकाननायासिकभूमौ नगरमपरमिव धरणिगोचरममरलोकम्, आस्पदं पुण्यकर्मणामलघु विविक्तमन्त्रविस्तारसम्भृतधृतिरधिवसति कुशिकवंशवर्धनी सर्वातिथिरप्रतिग्रहीत्री महत्युदाररुपा ब्रह्मराशिर्ब्रह्मसन्ततिः।
2. काव्यादर्श, मे.च.ल.दा., नई दिल्ली, 1973, भूमिका पृ. 39।
3. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954 पृ. 9–10 – तत्रोदपादि भगवतो विधिवदाहृतसर्वसप्ततन्तुरुपिणो नारायणस्वामिनो नाभिपद्म इव ब्रह्मैकधाम दामोदरस्वामिनामा तेजो(यमः(ऽ)मयः) कुमारः। सं यौवनारम्भ एवातिसुभगाकृतिरकृतकवाक्यदर्शितपुण्यसद्भावया सर्वाङ्गमनोहरया सर्वकलाविदग्धया सर्वभाषाप्रवीणया प्रमाणयुक्तया ललितपदविन्यासया चतुरहृद्यालाङ्कारया विशुद्धजातिवृत्तया सरस्वत्या स्वयंवर कन्यकया स्वयमुपेत्य सस्नेहमस्वज्यत।
4. वही, पृ. 10।

भेद मिलने से इस बात को बदलने के लिए इतिहासकारों को विवश होना पड़ता है। श्लोक का नवीन पाठ इस प्रकार है–

स मेधावी कविर्विद्वान् भारविं प्रभवं गिराम् ।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने ।।

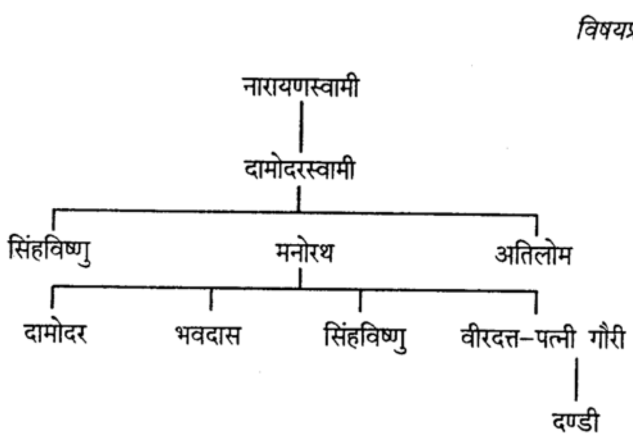
(अवन्तिसुन्दरी कथा 1/23)

पहला पाठ प्रथमान्त भारविः था। अब उसके स्थान पर द्वितीयान्त भारवि मिला है।[1] इससे यह बात सिद्ध होता है कि भारवि की सहायता से 'दामोदरस्वामी' ने महाराज 'विष्णुवर्धन' से मित्रता की थी तथा साथ ही एक तथ्य और भी प्रकाश में आता है कि दण्डी के प्रपितामह 'दामोदरस्वामी' और 'भारवि' समकालीन थे।

एक बार की बात है 'दामोदरस्वामी' ने महाराज 'विष्णुवर्धन' के आग्रह पर अपनी कुल परम्परा के विपरीत मांस का सेवन कर लिया। इससे लज्जित होकर वे प्रायश्चित स्वरूप तीर्थयात्रा पर चले गये।[2] तीर्थयात्रा के क्रम में 'दामोदरस्वामी' का सम्पर्क एक गाङ्गेय कुल दुर्विनीत से हुआ। फलस्वरूप उस दुर्विनीत से धीरे–धीरे मित्रता हो गयी और वे एक ही साथ रहने लगे। उस समय उनकी अवस्था लगभग 27 वर्ष की थी। उसी समय 'दामोदरस्वामी' की मुलाकात 'सिंहविष्णु' से हुई। वहीं दामोदरस्वामी की श्लेष, माधुर्य, और गुणयुक्त एक छन्द को सुनकर काञ्चीनरेश 'सिंहविष्णु' ने उन्हें अपने राज्य में बुला लिया और पुत्रवत् मानने लगा।[3] 'सिहंविष्णु' के कहने पर 'दामोदरस्वामी' ने विवाह किया। उनके तीन पुत्र 'सिंहविष्णु', 'मनोरथ' और 'अतिलोम' हुए। उनमें से मझले पुत्र 'मनोरथ' से 'दामोदर', 'भवदास', 'सिंहविष्णु' और 'वीरदत्त' नामक चार पुत्र हुए। उसमें से मनोरथ के सबसे छोटे पुत्र 'वीरदत्त' की बड़ी पत्नी माठरगोत्रियब्राह्मण कन्या 'गौरी' से अनेक बेटियों के बाद 'दण्डी' का जन्म हुआ। अतः उक्त वंशपरम्परा का निर्देश, निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

---

1. त्रिपाठी रमाशंकर, संस्कृत साहित्य का प्रामाणिक इतिहास, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1996, पृ.241–42।
2. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 10।
3. वही, पृ. 9– दनुजपतिहृदयभूधरविभेदविज्ञातशक्तिनख-कुलिशम्। जगदुदयहेतु विष्णोरवतु वपुर्नारसिंह वः।। स इमामार्यामाकर्ण्य गुणकुतूहली तमप्राक्षीत्– 'भद्र! कस्यैतान्यक्षराणि विकटवद्धान्योजस्वीनि च लक्ष्यन्ते, कस्य चेयं वर्णरचना माधुर्यवती प्रसन्ना चेन्दुकरकलिकेव श्रवणानन्दमुत्पादयति' इति।



दण्डी के जन्म के सातवें वर्ष में सम्भवतः माँ गौरी का स्वर्गवास हो गया जिसके कारण वीरदत्त की प्रेयसी और सरस्वती ने इनका पालन–पोषण किया।[1] बाल्यावस्था में ही उपनयन संस्कार के बाद 'दण्डी' अभी पढ़ ही रहे थे कि उनके पिता का भी स्वर्गवास हो गया। इस प्रकार 'दण्डी' बचपन में माता–पिता के स्नेह से वंचित रहे। उनकी बाल्यावस्था विषम परिस्थिति में संघर्ष करते हुए पली थी। उनका बचपन कठोर समय का परिचित था। उन्हें इस अल्पायु में ही स्वयं के लिए भोजन का प्रबन्ध करना पड़ा था। अतः उन्हें समाज को बहुत नजदीक से देखने का अवसर मिला फलस्वरूप वे अपनी कृतियों में समाज का यथार्थ चित्रण किये। 'दण्डी' अभी पिता के स्वर्गवास के दुःख का शमन भी नहीं कर सके थे कि इसी समय 'काञ्ची' पर शत्रु राजा ने आक्रमण कर दिया, जिसके कारण 'पल्लव', 'चोल' और 'पाण्ड्य' राजाओं के राज्यों में आतंक फैल गया। सबसे अधिक हानि 'पल्लव' राज्य की हुई। अन्य राज्यों में अकाल पड़ गया। जनता भुखमरी की शिकार होने लगी। पाठशालाएँ टूट गयीं। सभी लोग राज्य छोड़कर भागने लगे। 'बालक 'दण्डी' को भी अपने निवास स्थान का परित्याग कर जगंलों में कन्द–मूल, फल आदि से जीवन–यापन के लिए

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ.11–12 – नृपतिनिर्वन्ध परिणीतश्च ब्रह्ममयान् समग्रवाङ्मयाधार भूताननन्तमूलानचलकुलस्थितिविहितसन्निवेशानम्बुराशिगम्भीरानुज्जवल-राजहंसोपग्रहप्रकाशतेजसो लोकानिव त्रीन सिंहविष्णुमनोरथातिलोभनाम्नस्तनूजानजीजनत्। ......मध्यमस्तु तेषां मनोरथ इव........ लोकश्चतुरो दामोदरभवदाससिंहविष्णु (वीर) दत्तनाम्नो ब्रह्मधिष्ठितान् सुतानलभत। तेषां तु कनीयसो निसर्गशुद्धवृत्तस्य वीरदत्तशर्मणो ब्रह्मर्षेर्वसिष्ठस्ये-वारुन्धती सतीनाम ((ग्र)) गामिनी गौरी नाम माठरगोत्रा ब्रह्मणी गृहिणीपदमध्यतिष्ठत्। स तस्यामनेकदुहितृजन्मजातोद्वेगशान्तये तन्तुमेकं दण्डिनामानमविन्दत। पितुरस्य प्रेयसी सपत्नीपुत्र इत्यकृत्वा मत्सरं महानुभावा सप्तमाद्वर्षादारभ्य सरस्वत्येव सुप्रन्ना दण्डीनमवर्द्धयत्।

भटकना पड़ा।[1] वे भटकते–भटकते केरल पहुंचे। सम्भवतः इसी समय में इन्होंने विद्या अध्ययन किया। 'यहीं उनकी मित्रता केरलीय 'मातृदत्त', 'देवशर्मा'[2] और चोलदेशीय विश्वामित्रगोत्रिय, 'रामशर्मा' आदि से हुई।[3] 'अवन्तिसुन्दरी' में 'दण्डी' के एक और मित्र 'रणमल्ल' नामक सेनापति का भी उल्लेख मिलता है।[4]

कालान्तर में जब 'काञ्ची' का विप्लव शान्त हो गया तब 'दण्डी' अध्ययन के बाद विद्वान् होकर पुनः 'काञ्ची' लौट आये और 'पल्लव' राजाओं की छत्र–छाया में सम्मानित होकर रहने लगे।[5] वहीं उन्होंने 'महामल्लपुर' (आधुनिक मामल्लपुर) में विष्णु पूजा के अद्भूत दृश्य से प्रभावित होकर मित्रों के आग्रह पर और स्वप्न में वाग्देवी के आदेश को स्वीकार करके 'राजवाहन' नामक गान्धर्व से सम्बद्ध 'अवन्तिसुन्दरी' की कथा सुनायी।[6]

'आचार्यदण्डी' को अपने जीवनकाल में ही पर्याप्त यश और सम्मान प्राप्त हो गया था। वे कवि और आचार्य दोनों रूपों में प्रसिद्ध हो चुके थे। कला–पारखी की दृष्टि से भी उनका स्थान गौरवपूर्ण था। वे ब्राह्मण धर्म के अनुयायी तथा विष्णु के उपासक थे।[7] 'शैवमत' के प्रति भी उनकी कृतियों में जहाँ–तहाँ आदरभाव दिखलायी

---

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 12 – तस्मिश्चोपनीते पठति तद्गुरुर्गुरुदिदृक्षयेव स्वरगात्। तस्मिश्चान्तरे परचक्रपीडया पर्याकुलेषु द्रमिळचोलपाण्ड्येषु, परामृष्टासु कुलवधूषु, विरतेष्वग्निहोत्रेषु विलुप्तेषु धान्यकूटेषु विद्रुतेषु कुटुम्बिषु, जृम्भितेष्व.....कारयत्येकराज्यमुपरतप्रनष्ट बन्धुवर्गः प्रद्रुतप्रायपरिजनः प्रवृत्तवृत्तिक्षयो दुर्भिक्षक्षीणकोशः कौशिकदारको दण्डी...... या देशान्तराण्यभ्रमत्। अवसच्च चिरममिलक्षितेषु गुरुकुलेषु, अलभत चानवद्यां विद्याम्।
2. वही, पृ. 13–14 – मित्रं च तवैष विश्वब्रह्मराशेः कल्पसूत्रटीकाकारस्य सकलविद्यानदीपूर–वारिधेस्त्रिंशत्क्रतुविभूतिभावितत्रयस्त्रिंशस्य शापानुग्रहसमर्थस्य ब्रह्मर्षेर्भवरातनाम्नः पुत्रः, तत्पुत्राणां तत्समानमेघादिसर्वसम्पदां द्वितीय......... भूमिदेवनिवहचूडामणिर्देवशर्मा त्वद्दर्शनाय केरलेभ्यः।
3. वही, पृ. 15 – चोलाभिजनो विश्वामित्रगोत्रः कृती रामशर्मा नाम बालमित्रं चित्तानुवर्तनेषु... स्पृहणीयायां प्रियभूमौ किल दण्डिनमवादीत्।
4. वही, पृ. 13 – अथ सन्निधावेवोपविष्टाऽधिष्ठानमिव सर्वसद्गुणानां,..........वीरवतामपरनामा रणमल्लसेनापतिकुमारः सहपांसुक्रीडासम्भृतस्नेहराशिरब्रवीत।
5. उपाध्याय आचार्य बलदेव, संस्कृत वाङ्मय का वृहद इतिहास, पञ्चम खण्ड, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2003, पृ. 59।
6. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 17 – विधिना विधाय विष्णुपूजां दर्भशयनमध्यशेत। तथा शयानं चाशरीरां सरस्वती स्वप्ने एनमन्वग्रहीत। .... सर्वमनुजगन्धर्वसिद्धविधाधरश्वरस्य राजवाहननाम्नो .... कथामवन्तिसुन्दरीमाचिरव्यासुरित्यभाषत।
7. काव्यादर्श, मे.च.ल.दा., नई दिल्ली, 1973, 81/277/2, 28/47, 3, दशकुमारचरितम् – मङ्गलाचरण, अवन्तिसुन्दरी, पृ. 14।

पड़ता है[1] क्योंकि वे 'राजसिंह' के आश्रय में रहते थे और 'राजसिंह' शैव था। 'जैन' और 'बौद्ध' मतों के प्रति उनका विरोध जगत् प्रसिद्ध ही है। इन सम्प्रदायों के प्रति उनका आक्रोश भाव उनकी कृतियों में अनेकत्र मिलता है।

'आचार्यदण्डी' विभिन्न शास्त्रों में पारङ्गत और विविध कलाओं के आगम और प्रयोग में निपुण थे। तीक्ष्ण मेधा और अगाध पाण्डित्य के साथ–साथ उनमें अपूर्व कवि-प्रतिभा भी थी। व्यावहारिक जीवन में वे कौतूहलपूर्ण चित्तवृत्ति वाले और साहस प्रिय मनुष्य थे। 'दण्डी' वाग्विदग्ध और विनोदी प्रकृति के सहृदय थे। उन्होंने अपने अध्ययन के समय तथा राजाश्रित रहते हुए सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। फलस्वरूप वे समाज के सभी पहलुओं से अवगत थे। विभिन्न लोकरीतियों से उनका निकटतम सम्बन्ध था। उनकी दृष्टि पैनी थी और वे उर्वरकल्पना के धनी थे। उनकी रचनाओं में उनका व्यापक जीवन-दर्शन तथा विशाल अनुभव अपने पूर्णता में और विविध रूप–रंग के साथ उभरा हुआ दिखलायी पड़ता है। 'भोलाशंकर व्यास' जी का मानना है कि "दण्डी की कथा का सच्चा रस मध्यवर्ग के यथार्थपूर्ण जीवन में है जिसमें जादूगर, चञ्चल तपस्वी, जैन क्षपणक, राजकुमारियाँ, राज्यभ्रष्ट राजा, वेश्याएँ और कुट्टिनियाँ, नर्मव्यापार के दूतीकर्म करने में प्रवीण भिक्षुणियाँ, 'मृच्छकटिक' के 'शर्विलक' जैसे सिद्धहस्त चोर, रागाविष्ट उत्सुक प्रेमियों के विविध चरित्रों का जमघट पाया जाता है।"[2]

'पल्लव' राजाओं का 'काञ्ची' पर अधिकार था उन्हीं के पुत्रों को शिक्षित करने के उद्देश्य से 'काव्यादर्श' का आचार्य 'दण्डी' ने सृजन किया था। वास्तव में 'काव्यादर्श', 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरी' के प्रणेता का वास्तविक नाम क्या था? यह बहुत विवाद का विषय है लेकिन इनकी कृतियों[3] में अनेक दण्ड शब्द के प्रयोग को देखकर विद्वानों ने उन्हें 'दण्डी' नाम दे दिया और यही नाम कालिदास, माघ, भवभूति की भाँति लोक-प्रसिद्ध हो गया। 'कवि दण्डी' को माँ दुर्गा का भी वरदान प्राप्त था जिसका उल्लेख एक प्राचीन राजकवि केस[4] ने अपने 'माधवानल' नाटक में किया है। वहाँ जिन कवियों को वरदान दिये जाने का उल्लेख आया है उनमें पहला नाम कवि दण्डी का ही है।

---

1. काव्यादर्श, मे.च.ल.दा., नई दिल्ली, 1973, 2/278.9।
2. व्यास डा. भोलाशंकर, संस्कृत कवि दर्शन, चौ.वि.भ., वाराणसी 1994, पृ. 380।
3. दशकुमारचरितम् मङ्गलाचरण में व अवन्तिसुन्दरी के लगभग सभी पेजों पर दण्ड शब्द आया है।
4. माधवानल 1/2–3, किते रंक राजा किये देवि दुर्गे।
   करे कव्वि दण्डी गनौ कालिदासं जयद्देव भारवि भाष्यौ प्रकासं।
   निवाजे सवै तू गनाऊ कहाँ लौ। सुरेसौ निरेसौ निसेसो जहाँ लौ।।

दण्डी के सम्बन्ध में वैमत्य –

भारतीय वाङ्मय परम्परा में प्रायः सभी कवियों एवं लेखकों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अभाव होने के कारण उनके जीवनवृत्त को अनुमान की कसौटी पर कसने का प्रयास सहृदयों द्वारा किया जाता रहा है। 'कवि दण्डी' के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में भी जो कुछ जानकारी प्राप्त होती है वह सहृदयों के अनुमान एवं कल्पना का ही फल है। 'दण्डी' का जीवनवृत्त बहुत विवाद का विषय सहृदयों में बना हुआ है। भारतीय साहित्य परम्परा में "कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः" का उद्घोष मिलता है। इसी आधार पर सहृदयों ने अनेक दण्डी की कल्पना कर लिये। उनका मानना है कि 'आचार्य दण्डी', और 'कवि दण्डी' अलग–अलग व्यक्तियों का नाम है, दोनों एक व्यक्ति नहीं। इस प्रकार संस्कृतवाङ्मय में एक से अधिक 'दण्डी' की कल्पना आ जाती है। 'डॉ. सुधीर कुमार गुप्त' ने 'श्री अगाशे' के मत को प्रस्तुत करते हुए लिखा है 'आचार्य' और 'कवि दण्डी' भिन्न–भिन्न व्यक्ति हुए हैं।[1] उनकी उक्तियों को इस प्रकार समझा जा सकता है–

'दण्डी' की दो रचनाएँ 'दशकुमारचरित' और 'काव्यादर्श' विश्वप्रसिद्ध हैं, लेकिन साहित्यपरम्परा में– "त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुता"[2] के आधार पर उनकी तीन रचनाओं से सम्बन्ध होने का अनुमान किया जाने लगा। कवि दण्डी के सम्बन्ध में भारतीय प्रशस्तियों को देखकर विचार होता है कि 'दण्डी' ने पद्यात्मक काव्य भी लिखा होगा, जिसके आधार पर उन्हें सहित्याकाश में इतना गौरव व सम्मान प्राप्त हुआ। केवल दशकुमारचरित एवं काव्यादर्श के बल पर साहित्याकाश में इतना गौरव व सम्मान पाना असम्भव सा लगता है। अतः 'कवि दण्डी' को जो आदर व सम्मान मिला वह 'काव्यादर्शकार' और 'दशकुमारचरितकार' 'दण्डी' से भिन्न व्यक्ति थे। उनकी अब कोई रचना उपलब्ध नही है। एक बात और देखने में आती है कि 'काव्यादर्श' में जिस साहित्य–सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उससे 'दशकुमारचरित' में आकाश– पाताल का अन्तर है। वहाँ 'काव्यादर्श' द्वारा निर्दिष्ट साहित्यिक नियमों की अवहेलना की गयी हैं। यह सुरुचि विरुद्ध है जो 'काव्यादर्श' में सर्वथा असह्य है। जैसे–

"त्वामयमावद्धाञ्जलिर्दासजनस्तमिममर्थयते ।
स्वपिहि मया सह सुरतव्यतिकरा खिन्नैव मामैवम्॥"[3]

1. गुप्त डा. सुधीर कुमार, महाकवि दण्डी एक अध्ययन, आर–2 विश्वविद्यालयपुरी जयपुर 4, 1969, पृ. 23।
2. शारङ्गधर पद्धति, 174, सूक्तमुक्तावली 4/74।
3. गुप्त डॉ. सुधीर कुमार, महाकवि दण्डी एक अध्ययन, आर.2 विश्वविद्यालय पुरी, जयपुर 4, 1969, पृ. 24।

अर्थात्– मैं दास अञ्जली आबद्ध करके याचना करता हूँ कि तुम मेरे साथ सोवो, मुझे सुरत-व्यापार से खिन्न मत करो।

"कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥
कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते॥"[1]

अर्थात्– "शब्द और अर्थगत सभी प्रकार के अलङ्कारों का उद्देश्य रस की पुष्टि करना है। तो भी ग्राम्यत्त्वादिरहित काव्य के होने पर ही रस की पुष्टि सम्भव होगी। इसलिए कवि को ऐसे दोषों से वचना चाहिए या उनका वर्णन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि दूषकता प्रभावकारी न रहे। 'वृत्यानुप्रास' उसी स्थिति में काव्य को सरस और रुचिकर बनाता है जब वह अश्लीलता एवं ग्राम्यत्त्व दोष से रहित होता है। जैसे– हे कन्या मैं तुम्हें रति के लिए चाहता हूँ और तुम क्यों नहीं मुझे चाहती, इसमें विरसता ही स्पष्ट है।" यह अश्लीलता 'काव्यादर्श' में प्रभूत रूप से मिलती है जो 'दण्डी' को ग्राह्य नही है–

"शब्देऽपि ग्राम्यताऽस्त्येव सा सभ्येत्तरकीर्तनात्।"[2]

वे असभ्य शब्द के उच्चारण या काव्य प्रयोग में ग्राम्यता मानते हैं अतः उनके काव्य में जिस असभ्य शब्द का वर्णन किया गया है वह काव्यादर्शकार का नही बल्कि किसी अन्य का है।

'दशकुमारचरित' में 'काव्यादर्श' के नियम– "ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्"[3] के अनुसार गद्यकाव्य ओज आदि गुणों से युक्त होना चाहिए, परन्तु यह ग्रन्थ इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। इस ग्रन्थ में समासों का प्रयोग साधारण है अत्यधिक नहीं। अतः 'काव्यादर्श' के रचयिता आचार्य 'दण्डी' और 'दशकुमारचरित' के रचयिता गद्य लेखक 'दण्डी' से भिन्न हैं। इस प्रकार एक 'दण्डी' से भिन्न कोई और 'दण्डी' रहे होगें।

खण्डन –

श्री एम.आर. काले को इस बात पर आपत्ति है कि एक कवि की विभिन्न कृतियों में गुणों का तारतम्य प्रायः एक पाया जाता है। यह सम्भव है कि कवि ने प्रौढ़ अवस्था में अन्य काव्यों का सृजन किया हो जो अब अप्राप्त हैं। उन्हीं काव्यों के आधार पर 'कवि दण्डी' की मनीषियों में प्रशंसा की गयी हो, तथा दूसरा तथ्य

1. काव्यादर्श, चौ.वि.भ., वाराणसी 1984, 1/62–63।
2. वहीं, 1/65।
3. वही, 1/80।

यह है कि 'दशकुमारचरित' कवि की युवावस्था का ग्रन्थ है जो 'काव्यादर्श' से पहले की रचना है। आलङ्कारिक ज्ञान या तो उनमें विशेष परिपक्व नहीं था या उन्होंने इस विषय पर ध्यान नहीं दिया। बाद में उनके विचार परिपक्व व पुष्ट हो गये हों और वे 'काव्यादर्श' का सृजन किये हों। लोक में यह भी कहा जाता है नियम बनाना आसान है उसको पालन करना कठिन, अतः 'कवि दण्डी' के नियम और व्यवहार में अन्तर प्राप्त होता है तो उसके बारे में इतना आश्चर्य क्यों? भारतीय परम्परा भी कवि और गद्य लेखक दण्डी को एक ही व्यक्ति मानती चली आ रही है। कवयित्री गङ्गदेवी लिखती है–

''आचार्य दण्डिनो वाचामाचान्तमृतसम्पदाम् ।
विकासो वेधसः पत्न्या विकासमणि दर्पणम् ।।''[1]

इस श्लोक से 'आचार्य दण्डी' और 'कवि दण्डी' की एकता की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो रही है। 'आचार्य दण्डी' का जो 'गद्यकविदण्डी' के सम्बन्ध में आपत्ति उठायी गयी है वह भी इस बात से खण्डित हो जाती है कि 'आचार्य दण्डी' ने 'काव्यादर्श' में जो गद्य का लक्षण, उसका स्वरूप, भेद तथा वर्ण विषय का वर्णन किया है उससे उनकी गद्यप्रियता की स्पष्ट झलक मिलती है वे निश्चित रूप से काव्य का प्रणयन किये होगें जो हमारे सामने 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरी' कथा के रूप में विद्यमान है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'कवि दण्डी' और 'आचार्य दण्डी' दोनों एक ही वीरदत्त–पुत्र 'दण्डी' हैं। सहृदय लोग उनकी सभी कृतियों को ध्यान में रखकर अनेक नाम दे दिये। उनके नाम उनकी विशेषता का उल्लेख करते हैं न कि अनेक दण्डी का।

दण्डी का देश–काल –

'आचार्य दण्डी' की कृतियों व घटनास्थल 'विदर्भ' (वगर), 'मालव' (मालवा), 'आन्ध्र' (तैलंगाना), 'अश्मक' (ट्रावनकोट), 'कुन्तल', 'नासिक्य' (नासिक), 'कोंकण', 'चालुक्य' आदि को देखकर इनको 'दाक्षिणात्य' होने का अनुमान लगाया जा सकता है। 'अवन्तिसुन्दरी' में इनकी जन्मभूमि हिन्दुओं की पवित्र नगरी 'काञ्ची' स्थित 'अचलपुर' में मानी गयी है[2] और 'अचलपुर' के सम्बन्ध में 'धर्मेन्द्र कुमार गुप्त' का मानना है कि यह सम्भवतः नासिक्य (वर्तमान नासिक) में पड़ता है।[3] 'काञ्ची' के ही पल्लव नृपतियों की छत्रछाया में 'दण्डी' का सुखमय जीवन व्यतीत हुआ था।

1. गङ्गदेवी, माधुर्य विजयम्, श्लो. 1/10।
2. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 9।
3. काव्यादर्श, मे.च.ल.दा., नई दिल्ली, भूमिका पृ. 39।

'रमाशंकर त्रिपाठी' ने दण्डी के जन्मस्थान के सम्बन्ध में बहुत ही उचित व्याख्या प्रस्तुत की है जो निम्नवत है[1]–

'एम. रंगाचार्य' ने एक किंवदन्ती का उल्लेख किया है कि पल्लव नरेश के पुत्रों को शिक्षा देने के लिए ही 'दण्डी' ने 'दशकुमारचरित' की रचना की थी। 'काव्यादर्श' के एक प्राचीन टीकाकार है। 'तरुण वाचस्पति'। इनका कथन है कि 'दण्डी' ने अधोलिखित श्लोक में 'काञ्ची' तथा वहाँ के शासक पल्लवनरेश की ओर सङ्केत किया है।

''नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता।
अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वयानृपाः॥''

इस प्रकार इतिहास और किंवदन्ती दोनों के आधार पर यह बात सिद्ध हो जाती है कि 'कवि दण्डी' 'काञ्ची' के पल्लव नरेशों के सभारत्न थे।

'कविदण्डी' की अपर सीमा देखा जाय तो नवम् शताब्दी के ग्रन्थों में उनका नामोल्लेख आया है। ''सिंघली भाषा के अलङ्कार ग्रन्थ 'सिय–वस–लकर' (स्वभाषालंकार) की रचना 'काव्यादर्श' के आधार पर की गई है।[2] इसके रचयिता 'राजासेन' का शासनकाल 846 से लेकर 866 ई. तक था।[3] अतः 'आचार्यदण्डी' का समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नही हो सकता।

कन्नड़ भाषा के अलङ्कार ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' पर 'काव्यादर्श' की छाया स्पष्ट रूप से पड़ी है, इसके कुछ उदारहण 'काव्यादर्श' में अविकल रूप से उद्धृत किये गये हैं तथा कुछ परिवर्तित कर के उद्धृत किये गये हैं। 'बलदेव उपाध्याय' का कहना है ''इसके हेतु अतिशयोक्ति आदि अलङ्कार के लक्षण 'दण्डी' से अक्षरसः मिलते हैं।[4] इसके लेखक 'अमोघवर्ष' का समय 815 ई. के आस–पास माना जाता है, अतः 'दण्डी' का समय इससे पहले माना जाना चाहिए।

आठवीं शताब्दी के अपभ्रंश कवि 'स्वयंभू' ने अपने ग्रन्थ 'टिट्ठणेमिचरिउ' (हरिवंश पुराण) और पउमचरिउ में 'दण्डी' को आचार्य के रूप में सादर उल्लेख किया है।[5] इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक 'आचार्य दण्डी' को सभी क्षेत्रों में प्रसिद्धि मिल चुकी थी।

---

1. त्रिपाठी रमाशंकर, संस्कृत साहित्य का प्रमाणिक इतिहास, कृ.दा.अ., वाराणसी 1996, पृ. 242।
2. वारनेट–जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी–1906, पृ. 861।
3. द्विवेदी डा. कापिलदेव, संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, रामनारायण विजय कुमार, इलाहाबाद, 2004, पृ. 472।
4. उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1992, पृ. 40।
5. सांकृत्यायन राहुल, हिन्दी काव्य धारा, पृ. 22–24।

रानी 'विजयांकार' (विज्जिका) नामक कवयित्री जिसे चालुक्यवंशी पुलकेशी द्वितीय के पुत्र 'चन्द्रादित्य' की पत्नी 'विजयमहादेवी' से अभिन्न माना जाता है।[1] 'काव्यादर्श' के मंगलाचरण श्लोक के अन्तिम चरण में आये 'सर्वशुक्ला सरस्वती' का सपरिहास उद्धृत करती हुई कहती है–

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती।।[2]

स्वयं को साक्षात् सरस्वती अथवा वाग्देवी मानने वाली साँवलेवर्ण की महादेवी 'विज्जिका' सरस्वती को सर्वशुक्ला कहने वाले 'दण्डी' को परिहास व वृथादोष से आरोपित करती है। यदि 'विज्जिका' पुलकेशीय द्वितीय के पुत्र 'चन्द्रादित्य' की पत्नी 'विजयभट्टारिका' ही हो तो इनका समय सातवीं शताब्दी ई. का उत्तरभाग है।[3] अतः इन वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि सातवीं शताब्दी के आरम्भ तक 'दण्डी' की प्रसिद्धि आकाश छूने लगी थी।

'आचार्य दण्डी' ने अपने 'काव्यादर्श' में प्राकृत काव्य 'सेतुबन्ध' का उल्लेख किया है[4] तथा 'बाणभट्ट' ने 'हर्षचरित' की भूमिका में सेतुबन्ध काव्य को प्रवरसेन की प्रसिद्ध कृति के रूप में सिद्ध किया है।[5] वाकाटक सम्राट् 'प्रवरसेन प्रथम' का समय 284 ई. से 344 ई. माना जाता है। कुछ विद्वान् इन्हीं को 'सेतुबन्ध' महाकाव्य के लेखक मानते हैं परन्तु अधिकांश विद्वान् 'प्रवरसेन द्वितीय' को 'सेतुबन्ध' महाकाव्य के प्रणेता मानने के पक्ष में हैं। 'डा. कपिलदेव द्विवेदी' का मानना है कि "प्रवरसेन द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वितीय (375–413 ई.) की पुत्री प्रभावती गुप्ता के पति वाकाटक सम्राट् रुद्रसेन द्वितीय का पुत्र था।"[6] अतः उसका समय 450 ई. के लगभग ज्ञात होता है। इन तथ्यों के आधार से यह कहा जा सकता है कि दण्डी का काल प्रस्तुत समय से पूर्व नहीं हो सकता है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् का एक सुपरिचित श्लोक है–

'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।'[7]

1. अगाशे, दशकुमारचरित भूमिका, पृ. 59, काणे– उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ. 128।
2. सूक्तिमुक्तावली 4/96। शाङ्र्गधर पद्धति – 180।
3. शास्त्री व नीलकण्ठ, अर्ली हिस्ट्री आफ डेक्कन, भाग–4, पृ. 245।
4. काव्यादर्श, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984, 1/34।
5. हर्षचरितम्, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1998, भूमिका, पृ. 14 – कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमोदोज्ज्वला। सागरस्य परं पारं कपिसेनैव सेतुना।।
6. द्विवेदी डा. कपिलदेव, संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, राम नारायण विजय कुमार इलाहाबाद 2004, पृ. 470।
7. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चौ.वि.भ. वाराणसी, 2000, 1/20।

इसी आधार पर 'दण्डी' ने 'काव्यादर्श' में लिखा है–

'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीति सुभगं वचः।'[1]

यहाँ इति शब्द के प्रयोग से स्पष्ट संकेत होता है कि यह उदाहरण 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के उक्त श्लोक से ही लिया गया है। अतः 'दण्डी' को बिना किसी सङ्कोच के 'कालिदास' के अनन्तर रखा जा सकता है। 'किरातार्जुनीयम्'[2] महाकाव्य में जिस प्रकार वनेचर 'दुर्योधन' का समाचार 'युधिष्ठिर' के यहाँ लेकर आता है उसी प्रकार दण्डी के 'दशकुमारचरित' में भी 'राजवाहन' के पास कपट भेष में उसका गुप्तचर 'मालवदेश' के राजा 'मानसार' के गुप्त योजनाओं का समाचार लेकर राजदरबार में आता है।[3] यहाँ 'दण्डी' ने 'भारवि' का स्पष्ट अनुकरण किया है अतः इस तथ्य से निश्चित होता है कि 'भारवि' के बाद के 'दण्डी' थे। 'दण्डी' के रचनाओं पर और भी अनेकशः भारवि के प्रभाव परिलक्षित होते हैं जैसे– स्थान नियम के अन्तर्गत दण्डी द्वारा प्रदत्त निरोष्ठ्य रचना का 'नयनानन्दजनने' इत्यादि 'काव्यादर्श'[4] का उदाहरण 'किरातार्जुनीय'[5] के निरोष्ठ्य श्लोकों से प्रभावित प्रतीत होता है।

'बाणभट्ट' की 'कादम्बरी' का 'शुकनाशोपदेश' अतिप्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण उपदेश है। उसमें 'चन्द्रापीड' को उपदेश करता हुआ वह कहता है– 'केवलञ्च निसर्गत एवं एवाऽभानुभेद्यमरत्नालोकच्छेदमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमे यौवनप्रभवम्।'[6]

इसी के समान 'दण्डी' ने 'काव्यादर्श' में लिखा है कि–

'अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥'[7]

उक्त दोनों तथ्यों को देखकर यह स्पष्ट होता है कि 'दण्डी' 'बाणभट्ट' की 'कादम्बरी' से प्रभावित थे। इसके अतरिक्त 'बाणभट्ट' और 'दण्डी' के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में सबसे प्रामाणिक बात यह है कि दण्डी ने अपनी कृति 'अवन्तिसुन्दरी' के अन्त में 'कादम्बरी' को सारांश रूप में अवतरित किया है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि 'दण्डी' 'बाणभट्ट' से बाद के थे।

'अवन्तिसुन्दरी' के प्रकाश में आने पर उसमें दिये गये प्रस्तावना से प्राप्त वंशवर्णन से स्पष्ट होता है कि महाकवि 'दण्डी' 'भारवि' के मित्र 'दामोदरस्वामी' के

1. काव्यादर्श, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984, श्लो. 1/45।
2. किरातार्जुनीय, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1999, श्लो. 1/1।
3. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास पूर्व, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 13–14।
4. काव्यादर्श, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984, 3/88।
5. किरातार्जुनीयम्, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1999, श्लो. 15/7, 29।
6. कादम्बरी, कृ.दा.अ., वाराणसी, 2000, पृ. 495।
7. काव्यादर्श, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984, श्लो. 2/197।

प्रपौत्र थे। 'दामोदरस्वामी' का सम्पर्क 'विष्णुवर्धन' से 615 ई. में हुआ था।[1] 'काञ्चीपुर' में 'दामोदर स्वामी' ने अपना निवास स्थान बनाया था। यहीं उनके तीन पुत्र हुए। उनमें से मझले पुत्र 'मनोरथ' को चार पुत्र हुए। इन चारों में से सबसे छोटे पुत्र 'वीरदत्त' थे। यही 'वीरदत्त' 'दण्डी' के पिता थे। यदि 'मनोरथ' का जन्म काल सातवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में और 'वीरदत्त' का 630–35 ई. आस पास माना जाये तो 'दण्डी' का जन्मकाल लगभग 30 वर्ष बाद '665' ई. के आस–पास पहुँचता है, सातवें वर्ष में प्रवेश करते ही उनकी माता 'गौरी' का देहावसान हो गया, इसके कुछ समय बाद दण्डी का उपनयन संस्कार हुआ। इसके अनन्तर उन्होंने विद्याध्ययन आरम्भ किया। उनके अध्ययन के समय ही काञ्ची पर शत्रुसेना द्वारा आक्रमण किया गया।[2] फलस्वरूप 'दण्डी' को कुछ समय के लिए 'काञ्ची' छोड़ना पड़ा और पुनः वे लगभग 680 ई. में 'काञ्ची' लौटे तथा जीवन के अन्तिम समय तक यही रहे। एक परम्परा के अनुसार 'दण्डी' ने अपने आश्रयदाता के पुत्र सम्भवतः 'नरसिंहवर्मा द्वितीय' या उसके पुत्र 'महेन्द्रवर्मा तृतीय' को काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए 'काव्यादर्श' की रचना की थी।[3] अतः पल्लव राजसभा में 'दण्डी' की स्थिति का काल 680 ई. से 720 ई. तक माना जा सकता है। यही रहकर उन्होंने अपने शास्त्र–ग्रन्थ एवं काव्य–प्रबन्ध की रचना की थी। इन ग्रन्थों का रचना काल अनुमानतः इस प्रकार है– दशकुमारचरित– 680 ई., काव्यादर्श– 690 ई. और अवन्तिसुन्दरी– 715 ई. है।

दण्डी की कृतियाँ –

संस्कृतसाहित्य गद्यत्रयी के मुकुटमणि 'आचार्य दण्डी' ने कौन–कौन से ग्रन्थ लिखे थे? इसका निर्णय करना अति दुष्कर कार्य है, फिर भी अनेक आलोचकों तथा विद्वानों ने उनकी कृतियों के सम्बन्ध में अपने विचार दिये हैं। 'आचार्य राजशेखर' ने एक प्रख्यात पद्य के माध्यम से 'आचार्य दण्डी' के तीन प्रमुख कृतियों का उल्लेख किया है–

''त्रयोऽग्नयोस्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥''[4]

1. गुप्त डा. धर्मेन्द्र कुमार, काव्यादर्श, मे.ल.प. दिल्ली, 1973, भूमिका, पृ. 37।
2. क्लासिकल एज., पृ. 261–80, 673–4 में चालुक्यवंशी विक्रमादित्य प्रथम द्वारा पल्लव राज्य पर आक्रमण किया गया था। सम्भवतः यही आक्रमण अवन्तिसुन्दरी कथा में परचक्रपीडा के रूप में उल्लखित है।
3. गुप्त डॉ. धर्मेन्द्र कुमार, मे.च.ल.पा., दिल्ली, 1973, भूमिका, पृ. 38।
4. शारर्ङ्धरपद्धति, श्लोक 174, सुक्तिमुक्तावल्याम् 4/74।

अर्थात्– जिस प्रकार लोक में तीन 'अग्नियाँ' (गार्हपत्य, आवहनीय, दाक्षिणात्याग्नि) 'तीन देवता' (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) 'तीन वेद' (ऋग्, यजः, साम) 'तीन गुण' (सत्, रज्, तम्) विस्थापित हैं ठीक उसी प्रकार कवि दण्डी की तीनों रचनाएँ भी लोकप्रिय हैं। अब प्रश्न उठता है कि उनकी तीन कृतियाँ कौन सी है? जिन्हें हम 'कवि दण्डी' द्वारा प्रणीत माने। सामान्यतः 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' को सभी विद्वत्जन 'दण्डी' की कृति स्वीकार करते हैं, लेकिन उनकी तीसरी रचना के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कभी इनकी तीसरी रचना 'छन्दोविचिति' अथवा 'कलापरिच्छेद' मानी गयी तो कभी मृच्छकटिक, या अवन्तिसुन्दरी। इस प्रकार आज तक निष्कर्ष नहीं निकल पाया कि दण्डी की तीसरी रचना कौन सी है? लेकिन अवन्तिसुन्दरी के प्रकाश में आने पर तथा दशकुमारचरित–पूर्वपीठिका व कविवंश वर्णन के आधार अब सभी विद्वान् इसी को उनकी तीसरी कृति मानने लगे हैं। वैसे जिन कृतियों के साथ 'कविदण्डी' का तीसरी कृति के रूप में नाम जोड़ा जाता है वे इस प्रकार हैं– 'छन्दोविचिति', 'कलापरिच्छेद', 'द्विसन्धानकाव्य', 'मृच्छकटिक' और 'अवन्तिसुन्दरी'। इन कृतियों में 'कविदण्डी' की एक रचना कौन है, इसका निराकरण इस प्रकार किया जा रहा है–

छन्दोविचिति –

कुछ विद्वानों का मत है 'आचार्य' दण्डी की तीसरी रचना 'छन्दोविचिति' नामक छन्दशास्त्र है जो आज उपलब्ध नहीं है। उनका मानना है कि 'काव्यादर्श'[1] में आये 'छन्दोविचित्यां' से ज्ञात होता है कि उनकी एक रचना 'छन्दोविचिति' नामक थी जिसमें छन्दों का विधान रहा होगा। लेकिन ऐसी बात नहीं हो सकती है। उनका छन्दोविचित्यां से तात्पर्य केवल छन्द से है न कि ग्रन्थ से। 'डॉ. प्रीतिप्रभागोयल' का मानना है 'डा. याकोवी' आदि विद्वानों ने 'काव्यादर्श' में उल्लिखित 'छन्दोविचिति' को 'दण्डी' की तीसरी रचना माना किन्तु उस प्रसंग विशेष में इस नाम से छन्दःशास्त्र अर्थ भी ग्रहण होता है। इसके अतरिक्त 'सुबन्धु' ने भी 'छन्दोविचिति' नाम का सङ्केत किया है– 'छन्दोविचितिमिवरम्यतनुमध्याम्'। अतः इस विषय में 'डा. कीथ' का कथन ही स्वीकरणीय है कि 'छन्दोविचिति' का अर्थ या तो छन्दःशास्त्र से है अथवा 'काव्यादर्श' में इस नाम से अलग परिच्छेद रहा होगा।[2] छन्दोविचिति नाम तो अनेकानेक स्थानों पर मिलता है–

1. काव्यादर्श, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984, 1/12 – छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः। सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गभीरं काव्यसागरम्।।
2. गोयल प्रीतिप्रभा, संस्कृत साहित्य का इतिहास, लौकिक खण्ड, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1998, पृ. 220।

आपस्तम्बधर्मसूत्र[1] में वराह मिहिर के 'वृहतसंहिता'[2] में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र'[3] में सायणाचार्य के 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका'[4] और राजशेखर के 'काव्य मीमांसा'[5] आदि अनेक स्थानों में छन्दोविचिति नाम आया है। इस प्रकार 'दण्डी' के छन्दोविचित्यिां शब्द से तात्पर्य कोई ग्रन्थ विशेष से नहीं है वह केवल छन्दशास्त्र का द्योतक है जिसमें छन्दो का ज्ञान समाहित हैं। इसे 'कवि दण्डी' ने केवल काव्य में प्रवेश पाने के लिए विद्या के रूप में निर्दिष्ट किया है वे स्वयं 'काव्यादर्श' में ही कहते हैं कि 'छन्दशास्त्र का ज्ञान गम्भीर काव्यशास्त्र रूपी समुद्र को पार करने के लिए नौका की तरह आवश्यक उपकरण है।'[6] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'छन्दोविचिति' 'आचार्य दण्डी' की स्वतन्त्र रचना नही है। उसका उल्लेख उन्होंने काव्यशास्त्र के प्रवेशिका के रूप में किया है न कि अपने ग्रन्थ का नाम लिखे हैं।

कलापरिच्छेद –

कुछ विद्वान् 'काव्यादर्श' में आये 'कलापरिच्छेदे' के आधार पर 'दण्डी' की तीसरी कृति इसी को मानते हैं–

''इत्थं कलाचतुःषष्टौविरोधः साधु नीयताम् ।
तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति ।।''[7]

उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर अविर्भविष्यति से चौसठ कलाओं की संख्या के लिए 'कलापरिच्छेद' की रचना हुई होगी, जो न आज उपलब्ध है और न ही उसके उपलब्धता का कोई प्रमाण है। सम्भवतः 'दण्डी' 'काव्यादर्श' में कलापरिच्छेद नामक एक और परिच्छेद लिखना चाहते थे जिसे लिख नहीं सके। ऐसी अवस्था में वह स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हो सकता। इसे हम 'दण्डी' की तीसरी रचना नहीं मान सकते। उनकी तीसरी रचना तो लोक प्रसिद्ध थी। 'बलदेव उपाध्याय' छन्दोविचिति या कलापरिच्छेद को 'आचार्य दण्डी' की तीसरी रचना मानने के पक्ष में नही हैं। उनका

---

1. आपस्तम्बधर्म सूत्र, चौ.स.सी.आ., वाराणसी, 1969, 4–8–11 – षडो वेदः। छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरूक्तं शिक्षा छन्दो विचितिरिति।
2. वृहतसंहिता, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 1982, 64 – विपुलामपि वुद्धवा छन्दोविचितिं भवति कार्य भेतावत्। श्रुति सुखद वृत्त संग्रहमिममाह वराह मिहिरोडतः।।
3. अर्थशास्त्र, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1983, श्लो. 1/3/3 – शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरूक्तं छन्दोविचितिर्ज्योतिषमिति चानि।
4. ऋग्वेदभाष्यभूमिका, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी, 2000, पृ. 116।
5. काव्यमीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा–परिषद, पटना, 1954, द्वितीय अध्याय, पृ. 6 – शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छान्दोविचितिः ज्योतिषं च षडाङ्गानि इत्याचार्याः।
6. काव्यादर्श, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984, 1/12 – 'सा विद्या नौस्तितीर्षूणां'।
7. वही, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984, श्लोक 3/171।

मानना है 'आज कोई भी विज्ञ आलोचक 'छन्दोविचिति' तथा 'कलापरिच्छेद' को जो 'काव्यादर्श' के आरम्भ तथा अन्त में निर्दिष्ट किये गये हैं, स्वतन्त्र ग्रन्थ मानः के पक्ष में नही हैं। 'छन्दोविचिति' तो छन्दःशास्त्र का ही अभिधान है और 'दण्डी' ने भी स्वयं इसे काव्य में प्रवेश पाने के लिये विद्या के रूप में निर्दिष्ट किया है। दण्डी की दृष्टि में यह विद्या है, रचना नही। इसी प्रकार 'कलापरिच्छेद' भी 'काव्यादर्श' का ही अनुपलब्ध अंश है, जिसे 'दण्डी' ने अवश्य लिखा था, परन्तु आज उपलब्ध नहीं है।'[1] 'उपाध्याय जी' के भी कहने का अभिप्राय यही है कि 'कलापरिच्छेद' 'दण्डी' की स्वतन्त्र रचना नहीं है वह 'काव्यादर्श' का अंश मात्र है जो अप्राप्य है।

द्विसन्धानकाव्य –

'राजा भोज' ने अपने 'श्रृंगारप्रकाश' में दण्डा' विरचित 'द्विसन्धान' नामक काव्य से एक श्लोक उद्धृत किया है–

उदारमहिमा रामः प्रजानां हर्षवर्द्धनः।
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः ।।[2]

'राजा भोज' इस कथन से स्वयं 'दण्डी' कृत 'द्विसन्धानकाव्य' के विषय में सन्देहयुक्त दिखलायी पड़ते हैं, जो इसे 'दण्डी' की तीसरी रचना होने से दूर कर देता है। आजकल 'कवि धनञ्जय' का एक द्विसन्धानकाव्य प्रकाशित हुआ है, जिसमें उक्त श्लोक नही हैं। यह भी सम्भव है कि यह श्लोक किसी भिन्न संस्करण का हो जो आज उपलब्ध नहीं है। मात्र एक श्लोक को देखकर दण्डीकृत 'द्विसन्धानकाव्य' की सत्ता का अनुमान नहीं किया जा सकता, इसे हम 'दण्डी' की तीसरी रचना नहीं मान सकते हैं।

मृच्छकटिक –

अन्य कुछ विद्वतजन 'दशकुमारचरित' एवं 'मृच्छकटिक' के सामाजिक चित्रण की समानता के कारण 'मृच्छकटिक' को 'दण्डी' प्रणीत मानते हैं तथा कुछ और विद्वानों ने काव्यादर्श[3] में एक श्लोक और मृच्छकटिक[4] में भी आये उसी श्लोक के आधार पर दोनों रचनाओं को एक ही कवि द्वारा प्रणीत मानते हैं। उनका कहना है कि काव्यादर्श से उक्त श्लोक को 'दण्डी' ने 'मृच्छकटिक' में लिया है अतः 'मृच्छकटिक'

1. उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1992, पृ. 402।
2. श्रृंगारप्रकाश, अध्याय 11/2।
3. काव्यादर्श, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984, 2/362 – लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः। असत्पुरूषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता।।
4. मृच्छकटिकम्, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1999, 1/34।

'दण्डी' की रचना है। लेकिन महान् नाटककार 'भास' के 'दरिद्रचारुदत्त'[1] और 'बालभारत'[2] नाटक में भी यही श्लोक मिलता है। अतः इस श्लोक की समानता के आधार पर हम 'काव्यादर्शकार' और 'मृच्छकटिककार' को एक व्यक्ति नहीं मान सकते। ये दोनों लोगों ने इस श्लोक को भास के नाटकों से लिया है। 'दशकुमारचरित' और 'मृच्छकटिक' के सामाजिक-चित्रण की समानता का आधार भी कोई ठोस प्रमाण नहीं लगता है कि इन दोनों को 'दण्डी' की रचना माना जाय। 'प्रीतिप्रभा गोयल' कहती हैं 'प्रोफेसर पिशेल' प्रभृति अनेक विद्वानों ने 'काव्यादर्श' एवं 'मृच्छकटिक' में समान रूप से पाये जाने वाले एक श्लोक के कारण और 'मृच्छकटिक' तथा 'दशकुमारचरित' का सामाजिक चित्रण समान होने के कारण 'मृच्छकटिक' को 'दण्डी' की तृतीय रचना कहा था, किन्तु 'भास' के नाटक-समूह के प्रकाश में आ जाने पर यही श्लोक 'दरिद्रचारुदत्त' नाटक में भी मिला अतः 'पिशेल' आदि का यह कथन स्वतः ही ध्वस्त हो गया।[3]

अवन्तिसुन्दरी –

'अवन्तिसुन्दरी' को 'दण्डी' की तीसरी कृति के रूप में विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है। इसके प्रारम्भ में कविवंश वर्णन यह प्रमाणित करता है कि यह 'महाकवि दण्डी' की ही हस्तलेखनी का प्रासाद है। यदि 'अवन्तिसुन्दरी' अन्य कवि की कृति होती तो दण्डी के वंशावली–वर्णन का औचित्य ही नहीं उपस्थित होता। 'बाणभट्ट' भी तो 'हर्षचरित' के प्रस्तावना में अपने वंश का परिचय दिये हैं और 'बाण' के परवर्ती 'दण्डी' थे। अतः 'बाणभट्ट' का अनुकरण करके 'दण्डी' ने स्वयं अपना व अपने वंश का परिचय इस कृति में दिया है, किन्तु 'डॉ. भोलाशंकर व्यास' जी का मानना है कि "अवन्तिसुन्दरी कथा को दण्डी की कृति मानने वाला मत कोई ठोस प्रमाण उपन्यस्त नहीं हो सका है। हमें 'अवन्तिसुन्दरी' कथा को 'दण्डी' की कृति मानने में आपत्ति है और सच बात तो यह है कि 'महाकवि दण्डी' की तीसरी कृति का अभी हमें पता नहीं लग पाया है।"[4] 'डॉ. कपिलदेव द्विवेदी' का भी यही मानना है कि "यह 'दण्डी' की कृति नहीं है अपितु किसी अन्य कवि ने कालान्तर में यह ग्रन्थ लिखा होगा।"[5] लेकिन वह क्यों 'दण्डी' के नाम से लिखेगा? कवि तो यश

1. चारूदत्त, भासनाटक चक्र, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1995, 1/19।
2. बालचरित, भासनाटक चक्र, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1995, 1/15।
3. गोयल डा. प्रीतिप्रभा, संस्कृत साहित्य का इतिहास, लौकिक खण्ड राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर 1998, पृ. 220।
4. व्यास डॉ. भोलाशंकर, संस्कृत कवि दर्शन, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1955, पृ. 372।
5. द्विवेदी डा. कपिलदेव, संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, राम नारायण लाल विजय कुमार इलाहाबाद 2004, पृ. 469।

का अभिलाषी होता है 'दण्डी' स्वयं श्रेष्ठ गद्यकार हैं वे दूसरे की लिखी रचना को क्यों अपनायेगें? यदि 'अवन्तिसुन्दरी' 'दण्डी' के बाद में लिखी गयी रचना होती तो उसके लेखक का भी प्रसंगवश अवश्य नाम आता। बलदेव उपाध्याय का मानना है कि "इधर दण्डी के नाम से प्रकाशित 'अवन्तिसुन्दरी' कथा, 'दशकुमारचरित' के तुलनात्मक अनुशीलन से प्रतीत होता है कि 'अवन्तिसुन्दरी' कथा दण्डी की मौलिक रचना है।"[1] 'रमाशंकर त्रिपाठी' ने भी तर्कयुक्त प्रमाण देते हुए 'अवन्तिसुन्दरी' को 'दण्डी' की कृति सिद्ध किया है "अवन्तिसुन्दरी कथा की पाण्डुलिपियों की पुष्पिका यह सिद्ध करती है कि यह कृति 'दण्डी' की ही है। इसके अतिरिक्त अप्पयदीक्षित का एक ग्रन्थ है 'नामसंग्रहमाला' इसमें उन्होंने लिखा है– 'इत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डिप्रयोगात्'। इस कथन से यह बात पूर्ण प्रमाणित हो जाती है कि 'अवन्तिसुन्दरी' कथा 'दण्डी' की ही रचना है।"[2] यह 'अप्पयदीक्षित' वेदान्ती अप्पयदीक्षित से भिन्न कोई अन्य है लेकिन 'अवन्तिसुन्दरी' कथा के सम्बन्ध में उनका कथन उचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'अवन्तिसुन्दरी' 'कवि दण्डी' की रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। 'दशकुमारचरित' के सम्बन्ध में भी कुछ विद्वानों का मानना है कि 'दशकुमारचरित' की पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका किसी अन्य कवि के द्वारा बाद में लिख कर जोड़ दी गयी है। 'दण्डी' प्रणीत केवल मध्यभाग 'दशकुमारचरित' ही है। इन लोगों का मानना है कि पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका से मध्यभाग 'दशकुमारचरित' से शैलीगत भिन्नता है। कुछ लोग तो 'दशकुमारचरित' की पूर्वपीठिका को ही 'अवन्तिसुन्दरी' की कथा मानते हैं, लेकिन ऐसी बात नहीं है 'अवन्तिसुन्दरी' 'दण्डी' की स्वतन्त्र रचना है जिसका कुछ कथांश पूर्व पीठिका से मिलता–जुलता है। 'दशकुमारचरित' की जो शैलीगत भिन्नता बतलाई जाती है वह निराधार है। पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका से युक्त 'दशकुमारचरित' पूर्ण रूप से 'कवि दण्डी' की रचना है। इस प्रकार 'दशकुमारचरित' 'काव्यादर्श' और 'अवन्तिसुन्दरी' कथा 'दण्डी' की स्वतन्त्र रचना सिद्ध हो जाती है। 'डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल' का कहना है कि "अन्यपुष्ट विरोधी प्रमाणों के अभाव में उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों 'काव्यादर्श'–'दशकुमारचरित' तथा 'अवन्तिसुन्दरी' कथा को दण्डी की रचना स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।"[3]

---

1. उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1992 पृ. 402।
2. त्रिपाठी रमाशंकर, संस्कृत साहित्य का प्रामाणिक इतिहास, कृ.दा.अ. वाराणसी 1996, पृ. 248।
3. गोयल प्रीतिप्रभा, संस्कृत साहित्य का इतिहास लौकिक खण्ड, राजस्थानी ग्रन्थासार जोधपुर 1998, पृ. 220।

कृतियों का संक्षिप्त परिचय एवं कथावस्तु

काव्यादर्श –

दण्डी की तीनों कृतियों में अलंकार शास्त्र से सम्बन्धित 'काव्यादर्श' अति प्रसिद्ध कृति है। इसका पहला संस्करण 1863 ई. में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इसमें सामान्यतः तीन परिच्छेद हैं किन्तु सन् 1910 ई. में 'मद्रास' से रङ्गाचार्य द्वारा प्रकाशित संस्करण में चार परिच्छेद रखा गया था। अन्य संस्करणों में जिसको तृतीय परिच्छेद के रूप में रखा गया था उसी तृतीय परिच्छेद का इन्होंने दो भाग कर दिया। एक में यमक, चित्रबन्ध, तथा प्रहेलिका के 16 प्रकार और दूसरे में दोषों का निरूपण करके 'काव्यादर्श' को चार परिच्छेदों में विभक्त कर दिया है। 'कलकत्ता' और 'मद्रास' संस्करणों में दूसरा अन्तर यह था कि 'कलकत्ता' से प्रकाशित संस्करण में श्लोकों की संख्या 660 थी और मद्रास से प्रकाशित संस्करण में श्लोकी संख्या 663 थी। इस प्रकार 'कलकत्ता' और 'मद्रास' दोनों संस्करणों में अन्तर होते हुए भी सर्वमान्य संस्करण कलकत्ता संस्करण ही है। इसके प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण उसके गद्य–पद्य और मिश्र–काव्य रूप में काव्य के तीन भेद, सर्गबन्ध महाकाव्य का लक्षण देने के अनन्तर कथा और 'आख्यायिका' 'गद्यकाव्य' का 'भामह' अभिहित दो विभाजन कर के उसका खण्डन किया गया है। उन्होंने कथा और आख्यायिका को एक ही वर्ण का माना है अर्थात् दोनों में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। यह भेद औपाधिक है। उसके बाद साहित्य को भाषा के आधार पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र के आधार पर चार विभाग किया है। उन्होंने काव्य के दशगुणों के लिए वैदर्भ तथा गौड दो मार्गों का उल्लेख कर उसी प्रसंग में अनुप्रास का लक्षण व उदाहरण दिये हैं, और अन्त में उत्तम कवि बनने के लिए आवश्यक प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास- इन तीन गुणों का वर्णन किया है।

द्वितीय परिच्छेद में अलङ्कार का सामान्य लक्षण करने के बाद 35 अलङ्कारों का लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। वे 35 अलङ्कार जिनका वर्णन दण्डी ने द्वितीय परिच्छेद में किया है, क्रमशः निम्न हैं– 1. 'स्वभावोक्ति', 2. 'उपमा', 3. 'रूपक', 4. 'दीपक', 5. 'आवृत्ति', 6. 'आक्षेप', 7. 'अर्थान्तरन्यास', 8. 'व्यतिरेक', 9. 'विभावना', 10. 'समासोक्ति', 11. 'अतिशयोक्ति', 12. 'उत्प्रेक्षा', 13. 'हेतु', 14. 'सूक्ष्म', 15. 'लेश', 16. 'यथासंख्य', 17. 'प्रेम', 18. 'रसवत', 19. 'ऊर्जस्वि', 20. 'अपह्नुति', 24. 'श्लेष', 25. 'विशेषोक्ति', 26. 'तुल्ययोगिता', 27. 'विरोध', 28. 'अप्रस्तुत प्रशंसा', 29. 'व्यासोक्ति', 30. 'निदर्शना', 31. 'सहोक्ति', 32. 'परिवृत्ति', 33. 'आशी', 34. 'संसृष्टि', 35. 'भाविकत्व'।

'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद में ग्रन्थकार ने 'यमक' अलङ्कार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और 'चित्रबन्ध' के गोमूत्रिका 'अर्धभ्रम', 'सर्वतोभद्र', स्वरस्थानवर्ण-नियम आदि भेदों का तथा 'प्रहेलिका' के सोलह भेदों का वर्णन करने के बाद दस प्रकार के 'काव्य दोषों' का वर्णन किया है। मद्रास वाले संस्करण में इन दोषों के विवेचन को चतुर्थ परिच्छेद में दिखलाया गया है।

दशकुमारचरित –

इस ग्रन्थ के नाम से ही प्रतीत होता है कि दशकुमारों के चरित का वर्णन। इसमें 'राजवाहन', 'सोमदत्त', 'पुष्पोद्भव', 'अपहारवर्मा', 'उपहारवर्मा', 'अर्थपाल', 'प्रमति', 'मित्रगुप्त', 'मन्त्रगुप्त' और 'विश्रुत' नामक कुमार हैं। 'दशकुमारचरित' तीन भागों में विभक्त है- 1. पूर्वपीठिका, 2. उत्तरपीठिका, 3. उपसंहार। पूर्वपीठिका में पांच और उत्तरपीठिका में आठ उच्छ्वास हैं। उपसंहार 'दशकुमारचरित' के आठवें उच्छ्वास का पूरक है। इस ग्रन्थ की कथा उच्छ्वासों के क्रम से संक्षेप में दी जा रही है-

पूर्वपीठिका –

<u>प्रथम उच्छ्वास-</u> इस ग्रन्थ का प्रारम्भ 'विष्णु' के मङ्गलाचरण से हुआ है, अनन्तर 'मगध' देश की राजधानी 'पुष्पपुरी' में एक अत्यन्त वीर, मनस्वी और विनीत राजा 'राजहंस' राज्य करता था। वसुमती नामक उसकी राजरानी थी जो अनुपम सौन्दर्य से युक्त थी। 'धर्मपाल' 'पद्मोद्भव' और 'सितवर्मा' नामक उसके कुलक्रमागत मन्त्री थे। इनमें से 'धर्मपाल' के 'सुमन्त्र' 'सुमित्र' और 'कामपाल', 'पद्मोद्भव' के 'सुश्रुत' और 'रत्नोद्भव' तथा 'सितवर्मा' के 'सुमति' और 'सत्यवर्मा' नामक पुत्र हुए। इनमें से 'कामपाल' यायावार (आवारा) था अतः घर छोड़कर चला गया। 'रत्नोद्भव' समुद्री व्यापार में लग गये और सत्यवर्मा संसार की असारता से खिन्न होकर तीर्थयात्रा को चला गया, शेष चार मन्त्रिपुत्र 'सुमन्त्र', 'सुमित्र', 'सुश्रुत', और 'सुमति' 'राजहंस' के मंत्री बने।

एकबार मालवनरेश 'मानसार' ने 'मगध' पर आक्रमण किया। वह 'राजहंस' से परास्त होकर बन्दी बना लिया गया। 'राजहंस' ने दया करके उसे मुक्त कर दिया तथा उसका राज्य भी लौटा दिया। पराजित 'मानसार' 'राजहंस' से बदला लेने के लिए 'शिव' की आराधना करने लगा। 'शिव' प्रसन्न होकर एक मारक गदा दिये जिसके बल पर 'मानसार' ने पुनः 'मगध' पर आक्रमण किया। इस बार 'मानसार' की जीत हुई। युद्ध में 'राजहंस' घायल हो गया और उसे 'विन्ध्याचल' में आश्रय लेना पड़ा। मन्त्रियों सहित रानी भी वन में सुरक्षित पहुँच गई। अपने पति को [illegible] समझ कर रानी सती होने की तैयारी कर ही रही थीं कि उन्हें 'राजहंस' [illegible]।

स्वस्थ होकर 'राजहंस' 'वामदेव' नामक एक तपस्वी की सेवा में पुनः खोये हुए राज्य को प्राप्त करने की अभिलाषा से पहुँचा। उन्हें अपनी सारी दुःखगाथा सुनाया। ध्यान लगाकर 'वामदेव' ने बताया कि 'राजहंस' का एक पुत्र होगा जो अपने साथियों सहित विजयाभियान करके खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त करेगा और शत्रुओं का नाश करेगा। 'वामदेव' की भविष्यवाणी सत्य हुई। राजा के यहाँ एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'राजवाहन' रखा गया। इसी समय चारों मन्त्रियों के घर भी चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिनका नाम 'मित्रगुप्त', 'मन्त्रगुप्त', 'विश्रुत' और 'प्रमति' रखा गया। तभी मन्त्रि 'कामपाल' का पुत्र 'अर्थपाल', समुद्री व्यापारी 'रत्नोद्भव' का पुत्र 'पुष्पोद्भव' और तीर्थयात्री 'सत्यवर्मा' का पुत्र 'सोमदत्त' अपने पिताओं के विभिन्न दुर्घटनाओं में ग्रस्त हो जाने के कारण 'राजहंस' के पास लाए गए।

'मिथिला' का राजा 'प्रहारवर्मा' 'राजहंस' का अभिन्न मित्र और सहायक राजा था। वह 'राजहंस' की सहायता के लिए मगध पहुँच गया, लेकिन राजहंस के पराजय के कारण उसे तुरन्त स्वदेश लौटना पड़ा। मार्ग में शबरों ने उस पर आक्रमण कर सब कुछ लूट लिया। उसके दो बच्चे किरातों के पास पहुँच गये। उनमें से एक को बलि देने को उद्यत किरातों से बचाकर एक तपस्वी ने राजहंस के पास पहुँचा दिया। राजा ने उसका नाम 'अप्रहारवर्मा' रखा। 'प्रहारवर्मा' के दूसरे पुत्र को शबरी के गोद में देखकर 'राजहंस' सब वृत्तान्त जानकर उसका नाम 'उपहारवर्मा' रख कर सभी दशों कुमारों को पालने लगा। दशों कुमारों का साथ–साथ ही रहन–सहन हुआ था। वे समय क्रम से सब विद्याओं को सीखकर पारंगत हो गये।

<u>द्वितीय उच्छ्वास–</u> दूसरे उच्छ्वास में राजकुमार पूर्ण युवा हो गये थे। सब शिक्षा पाकर वे उत्तरदायित्व सम्भालने योग्य बन गये थे। अतः 'वामदेव' की सम्मति से सभी कुमारों को उचित उपदेश देकर शुभ मुहूर्त में दिग्विजय के लिए भेजा गया। दिग्विजय के समय वे अपना पड़ाव 'विन्ध्याटवी' में बनाये। यहाँ एक 'राजवाहन' से एक ब्राह्मण मिला, जो किरात भेष में अपना जीवन बिता रहा था: एकबार वह ब्राह्मण अन्य दूसरे ब्राह्मण की रक्षा में मारा गया। वह प्रेतपुरी पहुँचा और वहाँ के सभी दृश्यों से अवगत हुआ। पुनः 'यमराज' के आदेश से जीवित हो गया। वह 'शिव' की घोर उपासना में लग गया। शिव ने उसे स्वप्न में पाताल का राज्य प्राप्त करने की विधि बताई तथा सङ्केत किया कि कोई राजकुमार तुम्हारी सहायता के लिए स्वतः आयेगा। वह राजकुमार 'राजवाहन' ही था। 'राजवाहन' ने ब्राह्मण के साथ पाताल में पहुँचकर सहायता की, जिससे किरात ब्राह्मण की इष्ट सिद्धि हुई।

पुनः 'राजवाहन' ब्राह्मण से विदा लेकर शिविर स्थान पर पहुँचा। उसके सभी मित्र उसी की खोज में पहले से ही निकल चुके थे, फलस्वरूप वहाँ कोई नहीं मिला।

'राजवाहन' भी अपने मित्रों की खोज में निकल पड़ा और घूमते-घूमते 'उज्जयिनी' पहुँचा। वहाँ उसकी 'सोमदत्त' से भेंट हुई।

तृतीय उच्छ्वास– 'राजवंश' से 'सोमदत्त' 'उज्जयिनी' में मिला और आपबीती सुनाने लगा। वह घूमते हुए जङ्गल में पहुँचा। जहाँ उसे एक नदी के किनारे एक अमूल्य मणि मिली। वह मणि को लेकर एक मन्दिर में गया। मन्दिर के समीप में एक राजा अपनी सेना के साथ रुका हुआ था। मन्दिर में एक दुःखी ब्राह्मण मिला, जिसने राजा के सम्बन्ध में बताया कि यह 'लाटदेश' का राजा 'मत्तकाल' है, जो इस देश के राजा 'वीरकेतु' से उसकी पुत्री 'वामलोचना' को मांगा, लेकिन 'वीरकेतु' ने अपनी पुत्री उसे देने से इन्कार कर दिया। इस पर 'मत्तकाल' क्रोधित होकर आक्रमण कर दिया। 'वीरकेतु' डर कर अपनी पुत्री को उपहारस्वरूप 'मन्त्री 'मानपाल' के द्वारा 'मत्तकाल' के यहाँ भेज दिया। मार्ग में 'मानपाल' ने 'मत्तकाल' को मारने का षड्यन्त्र बनाया। यह सब जानकर 'सोमदत्त' ने उस मणि को गरीब ब्राह्मण को दे दिया और स्वयं सुखपूर्वक मन्दिर में सो गया। ब्राह्मण वहाँ से चला गया। परन्तु 'मत्तकाल' के सैनिकों ने उसे पकड़ लिया कि मणि तुमने कहाँ से पाया? सैनिकों ने उसे कोड़े से पीटा और उसके बताने पर उसके हाथ को पीछे बाँधकर मन्दिर में ले आये, 'सोमदत्त' पकड़ा गया। 'सोमदत्त' ने बहुत कहा कि मैं निर्दोष हूँ, पर कौन सुनता। कारागार में अन्य कैदियों के साथ उसे भी डाल दिया गया। कारागार के सभी कैदी 'मानपाल' के दास थे। जो 'मत्तकाल' को मारने के लिए गये थे, लेकिन वहाँ उसे न पाकर बहुत धन लेकर भाग रहे थे तभी पकड़ लिये गये। 'सोमदत्त' सभी से अपना वृत्तान्त सुनकर आधी रात को सबकी हथकड़ी खोल दिया और सभी सन्तरियों के हथियार लेकर 'मानपाल' के शिविर में पहुँच गये। 'मानपाल' बहुत प्रसन्न हुआ। उधर 'मत्तकाल' ने दूत भेजा कि चोरों को वापस कर दो। लेकिन 'मानपाल' उसकी निन्दा कर दासों को देने से इन्कार कर दिया। 'मत्तकाल' ने 'मानपाल' पर आक्रमण कर दिया। दोनों में घोर युद्ध हुआ। 'सोमदत्त' 'मानपाल' की ओर से लड़ रहा था, उसने 'मत्तकाल' का सिर काट दिया। जिसपर उसकी सभी सेना भाग खड़ी हुई। सभी लोग प्रसन्न होकर राजकुमारी 'वामलोचना' का विवाह 'सोमदत्त' से कर देते हैं तथा उसे अपना युवराज भी घोषित कर देते हैं। अब 'सोमदत्त' सुखपूर्वक रहने लगा। मित्र वियोग से व्यथित होकर एक तपस्वी की सम्मति से 'उज्जयिनी' में 'महाकाल शिव' की प्रतिमा की पूजा के लिए आया और वहाँ उसे अपने मित्र 'राजवाहन' के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

'सोमदत्त' 'राजवाहन' से अपनी आपबीती सुना ही रहा था कि 'पुष्पोद्भव' आ पहुँचा। तीनों मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। 'राजवाहन' की जिज्ञासा पर 'पुष्पोद्भव' स्ववृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया।

चतुर्थ उच्छ्वास– 'पुष्पोद्भव' 'राजवाहन' को खोजते हुए घूम रहा था उसी समय उसने एक पुरुष को शैल-शिखर से गिरते हुए देखा। सौभाग्य से वह उसका पिता 'रत्नोद्भव' था। सोलह वर्ष पहले उसका जहाज समुद्र में डूब गया था। इस विपत्ति से वह अपनी पत्नी से विमुक्त हो गया था। उसे बहुत खोजा लेकिन नही मिली। उसे सोलह वर्ष पूर्ण होने पर पत्नी का मिलन होगा, ऐसा एक सन्यासी ने बताया था लेकिन अब सोलह वर्ष पूर्ण हो गया और उसकी पत्नी भी नहीं मिली, तब वह पत्नी- वियोग को सहन न कर सका। अतः आत्महत्या का प्रयास कर रहा था। उसी समय 'पुष्पोद्भव' ने एक स्त्री को देखा जो चिता लगाकर जलने का प्रयास कर रही थी उसे 'पुष्पोद्भव' ने बचा लिया। वही स्त्री 'पुष्पोद्भव' की माता थी। उसका सब वृतान्त जानकर वह अनुमान कर लिया कि यह 'रत्नोद्भव' की पत्नी और मेरी माँ है क्यों कि वह भी अपने माता–पिता के सम्बन्ध में जानता था। वह माता–पिता को लेकर 'उज्जयिनी' आया। यहाँ पर 'बन्धुपाल' नामक एक धनिक की पुत्री 'बालचन्द्रिका' से प्रेम करने लगा और उसी से विवाह कर लिया। 'बन्धुपाल' के शकुन-विचार के अनुसार प्रस्थान कर 'राजवाहन' से मिला। 'राजवाहन' 'सोमदत्त' को 'महाकाल' के दर्शन के बाद शीघ्र आने का निर्देश कर 'उज्जयिनी' में 'पुष्पोद्भव' के प्रासाद में रहने लगा।

पञ्चम उच्छ्वास– 'राजवाहन' 'उज्जयिनी' में रह रहा था। वसन्त के समय में कांँमदेव–पूजन के लिये उद्यान में आयी हुई 'मालवराज' की पुत्री 'अवन्तिसुन्दरी' को देखकर 'राजवाहन' उस पर आसक्त हो जाता है। 'अवन्तिसुन्दरी' भी उसमें रत होते हुए 'पुष्पोद्भव' की पत्नी 'बालचन्द्रिका' की सहायता से 'कामदेव' के रूप में उसकी पूजा की। पूर्वजन्म का स्मरण करते हुए 'शाम्ब' तथा उसकी रानी मरालबन्धनजन्य शाप के कारण विप्रलम्भ की कथा को कहते हुए 'अवन्तिसुन्दरी' को उस जन्म में अपनी रानी होने का स्मरण कराया। तभी 'अवन्तिसुन्दरी' की माँ आ गयी। 'राजवाहन' में अपने अनुराग का प्रकाशन करती हुई वह अपनी माँ के साथ अन्तःपुर में चली गयी। विरह से खिन्न होकर 'अवन्तिसुन्दरी' ने 'बालचन्द्रिका' के द्वारा 'राजवाहन' को सन्देश भेजा। सम्मिलन के लिए उद्यत 'राजवाहन' की 'विद्येश्वर' नामक एन्द्रजालिक से मित्रता हो जाती है। 'विद्येश्वर' की सहायता से इन्द्रजाल में खोये हुए 'मालवराज' के सामने राजकुमार और राजकुमारी का विवाह सम्पन्न हो जाता है। ये दोनों 'राजवाहन' और 'अवन्तिुसन्दरी' ही थे। खेल की समाप्ति पर एन्द्रजालिक की आज्ञा से सब मायावी पात्र स्थान छोड़कर चले गये। अतः पूर्व प्रबन्ध के अनुसार 'राजवाहन' और 'अवन्तिसुन्दरी' भी अज्ञात रूप में कन्यान्तःपुर में पहुँच गये। जहाँ सुख-पूर्वक रहने लगे।

उत्तरपीठिका –

प्रथम उच्छ्वास– विवाह के बाद 'राजवाहन' 'अवन्तिसुन्दरी' के साथ सुखपूर्वक रहते हुए एक रात सो रहे थे कि 'राजवाहन' के पैरों में पिछले जन्म के शाप के कारण एक चाँदी की श्रृंखला दो मास के लिए अपने आप पड़ गई। राजकुमारी परेशान होकर चिल्लाने लगी। जिससे रहस्य खुल गया और राजवाहन को बन्दी बना लिया जाता है। 'चण्डवर्मा' 'राजवाहन' पर बहुत क्रोधित होता है। वह 'राजवाहन' को बुरी तरह घसीटता है। 'चण्डवर्मा' 'राजवाहन' को फाँसी देना चाहता है लेकिन 'मानसार' और उनकी पत्नी के पक्ष लेने से 'राजवाहन' बच जाता है। 'चण्डवर्मा' अंग के राजा 'सिंहवर्मा' से उसकी पुत्री को मांगता है। 'सिंहवर्मा' के इनकार कर देने पर 'चण्डवर्मा' उनपर आक्रमण कर देता है। युद्ध में 'सिंहवर्मा' पराजित होता है। 'चण्डवर्मा' अपने विवाह की तैयारी कर रहा था कि 'दर्पसार' के आदेशानुसार बन्दी 'राजवाहन' को हाथी के पैर से कुचलवाने के लिए लाया जाता है लेकिन शाप की अवधि समाप्त हो जाने से वह निरबन्ध हो जाता है, उधर 'अपहारवर्मा' 'चण्डवर्मा' की हत्या कर देता है। दोनों 'अपहारवर्मा' और 'राजवाहन' मिलकर 'चण्डवर्मा' की सेना को परास्त कर देते हैं।

द्वितीय उच्छ्वास– घूमते–घूमते 'अपहारवर्मा' मरीचि मुनि की सेवा में पहुँचा और अपनी सहायता के लिए प्रार्थना किया। मुनि ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लिये लेकिन उसे 'चम्पानगरी' में रूकने का आदेश दिया तथा अपनी आपबीती सुनाई कि "एक 'काममञ्जरी' नामक वेश्या ने अपनी शर्त को जीतने के लिए मुझे अपने सौन्दर्यजाल में फँसाया। परन्तु बाद में अपमानपूर्वक लौटा दिया।" 'अपहारवर्मा' उस दिन मुनि के आश्रम पर ही रुकता है दूसरे दिन वह 'चम्पानगरी' के लिए प्रस्थान करता है। मार्ग में 'विमर्दक' नाम का एक व्यक्ति मिला जिसके सम्पूर्ण धन–सम्पत्ति को 'काममञ्जरी' अपने कलात्मक अभिव्यक्ति से ठग ली थी। 'अपहारवर्मा' 'विमर्दक' को वचन देता है कि वह उसकी सम्पत्ति वापस करायेगा। 'अपहारवर्मा' जुवारी का रूप धारण करता है और चोरी भी करना प्रारम्भ कर देता है। एकवार अपने रात्रिकर्मों में उसकी भेंट 'कुवेरदत्त' की पुत्री 'कुलपालिका' से होती है। 'कुवेरदत्त' 'कुलपालिका' का विवाह 'धनमित्र' से करने का निश्चय किया था, किन्तु 'धनमित्र' कुछ काल पश्चात् ही अपनी राजोचित दान–प्रणाली से धन–हीन हो गया। धन का लोभी 'कुवेरदत्त' अपने पुत्री का विवाह 'अर्थपति' से करने का प्रबन्ध कर देता है, परन्तु 'कुलपालिका' 'धनमित्र' से प्रेम करने लगी थी। 'कुलपालिका' यह सब बातें 'अपहारवर्मा' से बतलाती है और 'अपहारवर्मा' उसे 'धनमित्र' के पास पहुंचा देता है। 'धनमित्र' और 'अपहारवर्मा' दोनों मिलकर 'कुवेरदत्त' और 'अर्थपति' के घर चोरी किये, जिससे 'कुलपालिका' का

विवाह एक मास के लिए स्थगित हो जाता है। 'अपहारवर्मा' ने चोरी के धन से 'धनमित्र' को धनी बना कर प्रसिद्ध कर दिया कि 'धनमित्र' के पास एक जादू का बटवा है, जो प्रतिदिन प्रभूत सुवर्ण राशि उगलता है। 'कुवेरदत्त' ने यह सुना तो बहुत प्रसन्न हुआ और अपनी पुत्री का विवाह 'धनमित्र' से कर दिया।

'काममञ्जरी' की छोटी बहन 'रागमञ्जरी' परम सुन्दरी थी। जिससे 'अपहारवर्मा' प्रेम करने लगता है। वह 'काममञ्जरी' से 'रागमञ्जरी' के लिए प्रार्थना करता है। दोनों में यह समझौता हुआ कि 'अपहारवर्मा' जादू का बटवा 'काममञ्जरी' को लाकर दे और 'काममञ्जरी' उन सबका धन लौटा दे जिनसे–जिनसे उसने लिया था। इस प्रकार 'विमर्दक' को उसकी धन-सम्पत्ति वापस मिल गयी। 'अपहारवर्मा' ने 'धनमित्र' से बटवा ला कर 'काममञ्जरी' को दे दिया। उधर 'धनमित्र' राजा को सूचना देता है कि उसका जादू का बटवा चोरी में चला गया। 'काममञ्जरी' डर गयी और उसने बटवा को लौटा दिया है तथा राजदण्ड से बचने के लिए 'अपहारवर्मा' की सम्मति से यह घोषित कर दी कि यह बटवा उसको 'अर्थपति' ने दिया था। राजा ने 'अर्थपति' को अपराधी घोषित कर देश से निकाल दिया और उसकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया।

एकबार 'अपहारवर्मा' सन्तरियों पर आक्रमण कर देता है, लेकिन पकड़ लिया जाता है। जेल का अध्यक्ष 'कान्तक' राजकुमारी 'अम्बालिका' पर आसक्त था। वह जेल से राजभवन तक एक सुरङ्ग खुदवाना चाहता था। अतः उसने इस कुशल चोर से काम लिया। 'अपहारवर्मा' सुरङ्ग खोदकर स्वयं राजकुमारी 'अम्बालिका' के शयन कक्ष पहुंच जाता है। राजकुमारी को सोये अवस्था में देखकर उसके सौंदर्य पर मोहित हो जाता है और लाह से राजकुमारी जिस अवस्था में सोई थी उसी तरह का चित्र बना कर स्वयं को पैरो के नीचे हाथ जोड़े हुए का चित्र भी अंकित कर एक आर्यवृत्त भी लिख देता है। राजकुमारी 'अम्बालिका' की अंगूठी अपने पहन लेता है और अपनी अंगुठी राजकुमारी को पहना कर सुरङ्ग से कारागार में वापस लौट आता है। 'कान्तक' को आते ही मार देता है। कारागार से 'श्रृंगालिका' के साथ भाग जाता है। रक्षापुरुषों से पकड़ा जाता है। 'श्रृंगालिका' 'अपहारवर्मा' को उन्मत्त बताकर रक्षापुरुषों से छुड़ा लेती है। उसी समय 'मरीचि' मुनि से 'अपहारवर्मा' की मुलाकात होती है जो पुनः तपस्या के बल से दिव्य ज्योति प्राप्त कर लिए रहते हैं। उन्होंने ही 'राजवाहन' के दर्शन होने का समाचार 'अपहारवर्मा' को दिया।

उन्हीं दिनों 'चण्डवर्मा' जो 'राजवाहन' का शत्रु था चम्पा नगरी को घेर कर 'सिंहवर्मा' और 'अम्बालिका' को बन्दी बना लेता है। 'अपंहारवर्मा' उनकी सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझा। जब 'चण्डवर्मा' 'अम्बालिका' को अपनाना चाहता है तभी

उस दुष्ट 'चण्डवर्मा' का वध कर देता है और 'मरीचि' मुनि के कथनानुसार उसकी भेंट 'राजवाहन' से हो जाती है।

तृतीय उच्छ्वास– 'राजवाहन' का अन्वेषण करता हुआ 'उपहारवर्मा' विदेह राज्य में पहुँचा। वहाँ एक वृद्धा ने रोते हुए उससे बताया कि मगधराज 'राजहंस' तथा विदेहस्वामी 'प्रहारवर्मा' में अतिघनिष्ट मैत्री थी। 'राजहंस' और 'मालवेन्द्र' में युद्ध आरम्भ होने पर 'प्रहारवर्मा' उनकी सहायता के लिए आया। लौटते समय वनवासियों ने उसका सब कुछ लूट लिया। 'प्रहारवर्मा' का छोटा पुत्र उस वृद्धा धाय के हाथ लगा जिसे वनवासियों ने अपहृत कर लिया था। 'प्रहारवर्मा' का सम्पूर्ण राज्य उसके भाई के पुत्रों के अधिकार में चला गया। 'प्रहारवर्मा' और रानी को कैद कर लिया गया। 'उपहारवर्मा' यह सब जानकर उस धाय से बतलाता है कि मैं ही वह बालक हूँ और अब मैं अपने माता–पिता को छुड़ाने का निश्चय भी कर लिया हूँ। धाय पुत्री की सहायता से उसने अपने पति से घृणा करने वाली 'विकटवर्मा' की परमसुन्दरी स्त्री 'कल्पसुन्दरी' को अपने पति से विश्वासघात करने में दृढ करके अपने प्रेम को प्रकट किया। 'उपहारवर्मा' उसके पास अनेक प्रकार की वस्तुओं को उपहार स्वरूप और अन्त में अपना चित्र भी भेज दिया। जब 'कल्पसुन्दरी' ने 'उपहारवर्मा' से मिलने की उत्कट इच्छा प्रकट की तो 'उपहारवर्मा' ने 'कल्पसुन्दरी' की सहायता से 'विकटवर्मा' को मारने का षड्यन्त्र रचा, उसने यह प्रसिद्ध कर दिया कि तान्त्रिक विधियों से राजा के स्वरूप को परिवर्तित कर आकर्षक बनाया जा सकता है। 'विकटवर्मा' 'कल्पसुन्दरी' की बात मान लेता है। वह यज्ञार्थ रात्रि में उपवन में पहुँचता है। उपवन में यज्ञ समाप्त होने पर 'कल्पसुन्दरी' के वेष में 'उपहारवर्मा' 'विकटवर्मा' को मारकर अग्नि-कुण्ड में डाल दिया और अपने आपको बदले हुए रूपवाला 'विकटवर्मा' घोषित कर दिया। 'विकटवर्मा' से उसके गुप्त भेद पूछ लेने से यह मन्त्रियों को भी धोखा देने में सफल हो गया। उसने 'विकटवर्मा' के सब क्रूर कर्मों को बन्द कर दिया और अपने माता–पिता को कैद से निकालकर उन्हें राज्य सौंप दिया और स्वयं युवराज बन गया। अपने मित्र 'सिंहवर्मा' की सहायता के लिए जब वह सेना लेकर चम्पा पहुँचा तो वहाँ उसे 'राजवाहन' का दर्शन होता है।

चतुर्थ उच्छ्वास– 'राजवाहन' की खोज में भ्रमण करता हुआ 'अर्थपाल' 'काशी' पहुंचा। वहाँ उसे एक पुरुष मिला, जिसने बताया कि उसका पिता 'कामपाल' 'काशी' के राजा 'चण्डसिंह' का मन्त्री था। परन्तु समय क्रम से अब काशी का राजा 'सिंहघोष' है। इसने अन्य मन्त्रियों द्वारा 'कामपाल' और 'कान्तिमति' का विवाह सम्बन्ध जानकर 'कामपाल' को कारागार में डाल दिया। उसने यह भी आदेशित किया है कि उसकी आँखे निकाल कर उसका प्राणान्त कर दिया जाय। इस तथ्य को जानकर 'अर्थपाल'

ने पिता को छुड़ाने का उपाय सोच लिया। वह एक विषैला सर्प लेकर प्रतीक्षा करने लगा। जब सैनिक कामपाल को वध के लिए ले जा रहे थे तभी 'अर्थपाल' अपने पिता 'कामपाल' के सिर पर सर्प को फेंक दिया। 'कामपाल' को सर्प काट लेता है और वह बेहोश होकर गिर जाता है। इस घटना से वहाँ उथल-पुथल मच गयी। सभी लोग सर्प के डर से भाग खड़े हुए। अन्त में एकान्त में ले जाकर 'अर्थपाल' ने अपने मन्त्रों की सहायता से (गरूड विद्या द्वारा) अपने पिता को विषरहित कर देता है। 'कामपाल' इस घटना से मरा हुआ घोषित हो जाता है। 'अर्थपाल' राजा की अनुमति से पिता के शरीर को उठा लिया और चिकित्सा द्वारा स्वस्थ कर दिया। 'कामपाल' इस प्रकार नरकीय जीवन से मुक्ति पाकर स्वर्गीय जीवन का अनुभव करने वाले के सदृश सभी कष्टों से रहित होकर अपूर्व अभ्युदय को प्राप्त किया।

'कामपाल' और 'अर्थपाल' दोनों मिलकर 'सिंहघोष' के वध की योजना बनाए। 'पूर्णभद्र' के द्वारा राजा 'सिंहघोष' के शयन स्थल का पता लगाकर 'अर्थपाल' ने एक सुरङ्ग बनायी। उसी सुरंग से राजा के शयन स्थल तक पहुंच कर उसे बन्दी बना कर अपनी माता 'कान्तिमती' और पिता 'कामपाल' के सामने उसे उपस्थित कर बन्दी बना लिया। सुरंग खोदते समय ही उसका एक रमणी से मिलन हुआ था, जो 'सिंहघोष' की पुत्री 'मणिकर्णिका' थी। उसी से 'अर्थपाल' विवाह कर लेता है और युवराज पद को विभूषित करता है। जब वह 'अङ्गराज' की सहायता के लिए सेना लेकर चम्पा पहुंचा तो वहाँ उसे 'राजवाहन' का दर्शन हुआ। 'राजवाहन' ने मुक्तकण्ठ से 'अर्थपाल' की प्रशंसा किया और 'सिंहघोष' को बन्धनमुक्त करके मिलाने तथा प्रमति नामक कुमार से उसका चरित् सुनने की इच्छा प्रकट की।

<u>पञ्चम उच्छ्वास–</u> 'प्रमति' अपना वृतान्त 'राजवाहन' को बतलाता है कि आपके अन्वेषणार्थ विन्ध्यपर्वत के समीप एक अपुष्पवृक्ष के नीचे पहुंचा तब तक संध्या हो चुकी थी। अतः अपने आपको रक्षा के लिए वनदेवता को अर्पण कर विश्राम के लिए वृक्ष के नीचे सो गया। कुछ समय बाद मेरी दाहिनी भुजा फड़कने लगी। मैंने धीरे-धीरे आँखें खोलकर ऊपर की ओर दृष्टि फेंकी तो चन्द्रमा के समान स्वच्छ वस्त्रवाला विमान दिखलायी पड़ा तदन्तर बायीं ओर दृष्टि डाली तो एक अङ्गना को देखा जो अमृत फेन के टुकड़े के समान अत्यन्त विमल पलङ्ग पर सोयी हुई थी। मेरे स्पर्श से उसने जरा भी आश्चर्य नहीं किया। मेरे अन्तःकरण में भी उसका अनुराग प्रविष्ट हो गया। पुनः मैं कुछ निद्रित हो गया तो शरीर को शयन कष्टप्रद प्रतीत होने लगा अर्थात मुझे मालूम हुआ कि मैं उसी पर्णशय्या पर सोया हुआ हूँ।

जागकर वह अभी यह विचार कर ही रहा था कि यह घटना स्वप्न था या मतिविभ्रम, तभी एक 'तारावली' नामक यक्षिणी आयी जो वस्तुतः मेरी माँ थी। उसने

बताया की यह घटना सत्य है। उसी के द्वारा मुझे ज्ञात हुआ कि उक्त राजकुमारी 'नवमालिका' ही थी जो 'श्रावस्ती' नरेश की पुत्री है। अतः मैं 'श्रावस्ती' की ओर चल पड़ा, रास्ते में मैंने कुक्कुट युद्ध देखा, जो तत्कालीन मनोरंजन साधनों में से एक था। कुक्कुट युद्ध देखते समय हमारी एक वृद्ध ब्राह्मण से मुलाकात हुई जिससे हमारी गहरी मित्रता भी हो गयी। राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए हम दोनों ने मिलकर योजना बनाई। 'प्रमति' ने ब्राह्मण कन्या का वेषधारण कर लिया। ब्राह्मण उसे लेकर राजा के पास पहुँचा और प्रार्थना किया कि राजा उसकी पुत्री की तब तक देखभाल करें, जब तक वह उस युवक को खोज कर लाए जिसे उसने अपनी पुत्री को कन्यादान किया है। राजा ने स्वीकार कर लिया। अवसर पाकर 'प्रमति' ने धीरे-धीरे राजकुमारी से परिचय बढ़ाकर अपना प्रेम प्रकट कर दिया। फलस्वरूप दोनों में अगाध स्नेह उत्पन्न हो गया। इसके बाद 'प्रमति' अदृश्य हो गया और मित्र ब्राह्मण के पास जा पहुंचा। अब ब्राह्मण उसे अपने भावी जामाता का रूप देकर राजा के पास ले गया और अपनी पुत्री को मांगा। परन्तु राजा उसे न लौटा सका और लौटाता भी कहां से वह तो वहाँ थी नहीं? ब्राह्मण ने एक न सुनी और धमकी दिया कि यदि उसकी पुत्री को न लौटाया गया, तो वह अग्नि में जल जायेगा। राजा ने विवश होकर ब्राह्मण को मनाने के लिए अपनी पुत्री का विवाह 'प्रमति' से कर दिया। नवमलिका से विवाह होने के पश्चात् राजा 'सिंहवर्मा' की सहायता के लिए मित्रों द्वारा प्रेरित मै अपने दल-बल के साथ इस 'चम्पापुरी' में आ पहुंचा। यहाँ देववश 'राजवाहन' का दर्शन प्राप्त हुआ।

<u>षष्ठ उच्छ्वास-</u> षष्ठम् उच्छ्वास में 'मित्रगुप्त' भ्रमण करते हुए एकबार 'सुह्मदेश' की राजधानी 'दामलिप्त' पहुँचा। यहाँ का राजा 'तुंगधन्वा' दुर्गादेवी की वरदान से 'भीमधन्वा' नामक पुत्र और 'कन्दुकावती' नाम की पुत्री प्राप्त किया था। देवी आदेश दी थीं कि राजकुमारी प्रतिवर्ष जनता में जाकर एक उत्सव में गेंद खेला करेगी और उसी उत्सव में अपने वर का चुनाव स्वयं करेगी। स्वयं चुने गये वर को सभी लोगों को मानना होगा। इस उत्सव को 'कन्दुकोत्सव' कहा जाता था। जिस समय 'मित्रगुप्त' 'दामलिप्त' पहुँचा उस समय यह उत्सव चल रहा था। राजकुमारी 'कन्दुकावती' 'मित्रगुप्त' को देखकर उसकी सुन्दरता पर मोहित हो जाती है और उसे अपना भावी पति चुन लेती है। 'भीमधन्वा' को राजकुमारी का यह चुनाव ठीक नहीं लगा क्योंकि 'मित्रगुप्त' सभी से एकदम अपरचित था। अतः वह क्रोधित हो जाता है और 'मित्रगुप्त' को समुद्र में फेंकने की आज्ञा दे देता है। आज्ञानुसार 'मित्रगुप्त' को समुद्र में फेंक दिया जाता है। 'मित्रगुप्त' समुद्र में तैर रहा था उसी समय यवनों का एक जलयान मिला। यवनों ने उसे अपने जलयान में ले लिया। यवन 'मित्रगुप्त' को अपना अनुचर

बनाना चाहते थे। सौभाग्य से एक दूसरे जहाज वाले आये और उसके जहाज पर आक्रमण कर दिये। 'मित्रगुप्त' ने अपने युद्धकौशल से आक्रमणकारियों को छिन्न-भिन्न कर दिया। इस जहाज का कप्तान 'भीमधन्वा' ही था। जिसे बन्दी बना लिया जाता है और 'मित्रगुप्त' स्वतन्त्र हो जाता है।

अनन्तर घूमते हुए 'मित्रगुप्त' उत्तरद्वीप के एक विशाल पर्वत पर पहुँचा। उस पर्वत की शोभा मनोहारिणी थी। वहीं पर पद्मरागमणि की आभा से रञ्जित तथा कमलों के सौरभ से युक्त एक सरोवर में स्नानादि क्रियाओं को समाप्त ही किया था कि किसी 'ब्रह्मराक्षस' से मुलाकात हो गयी। उसने चार प्रश्न किये- 1. क्रूर कौन है? 2. गृहस्थी में सबसे अधिक सुखदायक कौन है? 3. काम क्या है 4. कठिन लक्ष्य की प्राप्ति का साधन क्या है? राक्षस ने साथ ही यह भी कहा कि यदि मित्रगुप्त इन प्रश्नों का उत्तर न दे सका तो वह उसे खा जायेगा। मित्रगुप्त ने इन प्रश्नों के 1. स्त्री का हृदय 2. पत्नी के गुण 3. संकल्प और 4. प्रज्ञा द्वारा, उत्तर देकर अपने कथन का स्पष्टीकरण करने के लिए क्रमशः 'धूमिनी', 'गोमिनी', 'निम्बवती' और 'नीतम्बवती' की कथा सुनाता है। अतः 'मित्रगुप्त' पर वह 'ब्रह्मराक्षस' बहुत प्रसन्न होता है। इसी समय एक अन्य राक्षस विरोध करती हुई स्त्री को आकाश मार्ग से ले जा रहा था। मित्रगुप्त के साथ राक्षस उस राक्षस से उस युवती को बचा लेता है। दैवगति से वह उसकी भावी पत्नी 'कन्दुकावती' ही निकली। अब 'मित्रगुप्त' 'कन्दुकावती' के साथ 'दामलिप्त' आया। वृद्धराजा 'मित्रगुप्त' का अति आदर सत्कार किया और उससे अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। यह राजा चम्पा के राजा 'सिंहवर्मा' का मित्र था। उसके सहायतार्थ 'मित्रगुप्त' अपनी सेना लेकर चम्पा पहुँचा जहाँ उसे 'राजवाहन' के दर्शन हुए।

<u>सप्तम उच्छ्वास-</u> "कविदण्डी' ने इस उच्छ्वास को ओष्ठ्यवर्ण रहित वर्णों में वर्णित किया है। ऐसा सुन्दर प्रयास शायद ही किसी अन्य उन्नतभाषा में दृष्टिगत हो। इतना ही नहीं ओष्ठ्यवर्ण रहित होने पर कथा पाठ में कुछ भी अरोचकता या कठिनता की प्रतीति नहीं होती है।"[1] 'राजवाहन' की खोज करता हुआ 'मन्त्रगुप्त' एकबार कलिङ्गदेश में पहुंचा। नगर से बाहर श्मशान में उसने देखा कि एक सिद्ध किसी तरुणी को अलौकिक सिद्धि की प्राप्ति हेतु बलि देने का प्रयास कर रहा है। 'मन्त्रगुप्त' इस युवती को उस सिद्ध से बचा लेता है। 'मन्त्रगुप्त' के पूछने पर पता चला कि वह कालिङ्गाधिपति की पुत्री राजकुमारी 'कनकलेखा' थी। जिसे सिद्धपुरुष ने एक प्रेत के द्वारा श्मशान स्थल पर मंगवा लिया था। 'मन्त्रगुप्त' और 'कनकलेखा'

---

1. वर्मा डा. निलिमा, दण्डी की उपमा योजना, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2005, पृ. 40।

में परस्पर प्रेम हो गया। 'मन्त्रगुप्त' अज्ञात वेष में राजकुमारी के अन्तःपुर में उसीं के साथ रहने लगा। किसी समय जब 'कलिङ्ग' का स्वामी 'कर्दन' अपने कुटुम्ब सहित कुछ दिन के लिए समुद्र के किनारे निवास कर रहा था। तब आन्ध्र का स्वामी राजा 'जयसिंह' ने उसपर आक्रमण करके उसे बन्दी बना लिया। 'मन्त्रगुप्त' राजा को छुड़ना चाहता ही था और सौभाग्य से उसे अवसर भी मिल जाता है। 'जयसिंह' 'कनकलेखा' से विवाह करना चाहता था, परन्तु उसे मालूम था कि राजकुमारी किसी यक्ष के अधीन है। जब तक उसे यक्ष से मुक्ति नहीं मिलेगी तब तक इष्टसिद्धि सम्भव नहीं है। 'मन्त्रगुप्त' उसी समय एक साधु वेष में राजा के पास पहुँचा। राजा ने 'कनकलेखा' से यक्ष को दूर भगाने में उससे सहायता मांगी। साधू ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और कहा कि वह एक विशेष सरोवर में स्नान करे। हमारे द्वारा मन्त्र का उच्चारण किया जायेगा और राजा का शरीर परिवर्तित हो जायेगा। इस परिवर्तित शरीर से युद्ध करके उस यक्ष पर विजय सम्भव है। राजा सहर्ष तैयार हो जाता है और स्नानार्थ सरोवर में घुस जाता है। 'मन्त्रगुप्त' पहले से ही प्रबन्धित योजनानुसार राजा का वध करके स्वयं परिवर्तित शरीर वाला राजा 'जयसिंह' बनकर सरोवर से निकला। सरोवर के तटवर्ती हाथी पर सवार होकर 'मन्त्रगुप्त' राजभवन में पहुँचकर सिंहासन को अंलकृत किया। याचकों को खूब धनादि का दान किया। 'कनकलेखा' की सहचरी शशांकसेना के सहायता से कनकलेखा को प्राप्त किया। अन्ततः उसने बताया कि आन्ध्र और 'कलिङ्गदेश' पर शासन करते हुए अङ्गराज की सहायता के लिए संग्राम के प्रभूत साधनों से पूर्ण इस स्थान पर आया। जहाँ मित्रों के साथ आपका (राजवाहन) का दर्शन प्राप्त हुआ।

अष्टम उच्छ्वास– 'विश्रुत' 'राजवाहन' को अपना वृतान्त सुनाता हुआ कहता है कि जब मैं 'विन्ध्याट्वी' में इतस्ततः भ्रमण कर रहा था, तभी एक कूप के समीप एक बालक को रोते हुए देखा। बालक के समीप जाकर पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसका वृद्ध साथी उसी कूप मे गिर गया है तथा बालक उस वृद्ध को बाहर निकालने में असमर्थ है, अतः मैंने उसे किसी तरह से बाहर निकाल कर उसका और उस बालक का परिचय पूछा जिससे पता चला कि 'भोजवंश' का भूषण 'पुण्यवर्मा' 'विदर्भदेश' का शासक था, जो बहुत 'यशस्वी', 'सत्यवादी', 'दानी', 'प्रजापालक', 'महान्', 'बलवान', अपने दासों को प्रसन्न रखने वाला, उन्नतिशील शास्त्र में श्रद्धा रखने वाला, विद्वानों की पूजा करने वाला, बन्धुओं की सहायता वाला, शत्रुओं का दमन करने वाला, होते हुए भी वह अत्यन्त विलासी प्रकृति का था। मन्त्रियों का उचित उपदेश नहीं समझता था। केवल अनीतिपूर्ण कार्यों को करने से अपने राज्य से हाथ धो बैठा। पड़ोसी देश के राजा अश्मकेश (वसन्तभानु) एवं कुन्तलपति अवन्तिदेव ने

भीलों की सहायता से उस अनन्तवर्मा का वध कर दिया। उसके मरने के पश्चात् मन्त्री 'वसुरक्षित' 'भास्करवर्मा' की भगिनी 'मंजुवादिनी' एवं महादेवी 'वसुन्धरा' को लेकर भाग निकला, किन्तु ज्वर पीड़ित होने के कारण वसुरक्षित की मृत्यु हो गई। तभी कुछ लोगों से इन सभी को 'मित्रवर्मा' के यहाँ भेजवा दिया गया। लेकिन 'मित्रवर्मा' 'भाष्करवर्मा' के भावी राजा होने की चिन्ता से उसकी हत्या करना चाहा। महारानी को जब यह बात समझ में आई तब उन्होंने 'नालिजंघ' नामक मुझ दास को बुलाकर कहा कि तुम इस बालक को कहीं ले जाकर छिपा दो और स्वयं भी छिप जाओ। यदि मैं जीवित रही तो अवश्य मिलूँगी। समय-समय पर गुप्त रूप से समाचार देते रहना। वहीं दासनालीजंघ मैं हूँ तथा यही बालक 'भाष्करवर्मा' है।

मैंने उन दोनों का वृत्तान्त जानकर जल और भोजन का प्रबन्ध करके जब कुमार की माँ के कुल के सम्बन्ध में पूछा तो ज्ञात हुआ कि उसकी माँ के और मेरे पिता के नाना एक ही हैं। मैंने भी अपना परिचय उन सबों से बताया कि मैं सुश्रुत का पुत्र विश्रुत हूँ। मैंने उसी समय प्रतिज्ञा कर लिया कि 'अश्मकनरेश' को उखाड़ फेंककर मैं अवश्य इस बालक को इसके पिता की गद्दी पर बैठाऊंगा। उसी समय एक बहेलिया आया जिससे पता चला 'चण्डवर्मा' का छोटा भाई 'प्रचण्डवर्मा' 'मित्रवर्मा' की पुत्री 'मंजुवादिनी' को प्राप्त करने की इच्छा से माहिष्मती आ रहा है। इसलिए उस नगर में आज महान उत्सव मनाया जा रहा है। ऐसा जानकर मैंने राजकुमार को अपने साथ रख लिया और बूढ़े मन्त्री के हाथ में विष देकर कहा कि तुम माहिष्मती चले जाओ और आम जनता में यह बात फैला दो कि लड़के को जङ्गल में बाघ खा गया। परन्तु अकेले में रानी से मिलना और कुमार की कुशलता बतलाकर कहना कि तुम फूलों की माला बनाकर इस विष मिले पानी में डुबाकर 'मित्रवर्मा' की छाती पर यह कहते हुए प्रहार करना कि "यदि मैं पतिव्रता हूँ तो यह पुष्पमाला तलवार का काम करें। फिर उसी माला को अन्य औषधि वाले जल में धो कर 'मंजुवादिनी' को पहना देना। 'मित्रवर्मा' के मर जाने पर 'प्रचण्डवर्मा' को संदेश भेजना कि यह राज्य राजाविहिन है। अतः इसे और मेरी पुत्री 'मञ्जुवादिनी' को स्वीकार करके हमें उपकृत करें। तब तक हम दोनों कापालिक के वेष में श्मशान में रहेगें। फिर रानी प्रमुख अधिकारियों और अन्य व्यक्तियों को बुलाकर कहे कि रात को स्वप्न में देवी विन्ध्यवासिनी ने दर्शन देकर कहा कि आज से चौथे दिन 'प्रचण्डवर्मा' मर जायेगा। मैंने व्याघ्ररूपिणी होकर तुम्हारे पुत्र को अपनी रक्षा में ले लिया है। वह एक द्विजकुमार के साथ पांचवे दिन मेरे मन्दिर से निकलेगा। यह द्विजकुमार राजकुमार को राज्य में स्थापित करेगा तथा 'मञ्जुवादिनी' द्विजकुमार की पत्नी बनेगी। इस प्रकार की योजना के अनुसार ही 'मित्रवर्मा' मारा गया। कापालिक का रूप धारण करके विश्रुत विभिन्न कौतुहलपूर्ण खेल

को दर्शाते हुए मैं 'प्रचण्डवर्मा' के सिंहासन के पास गया और अन्धेरे में सहसा कटार निकालकर खेल ही खेल में 'प्रचण्डवर्मा' की छाती में घुसेड़ दिया तथा अश्मकेन्द्र 'बसन्तभानु' की जय जयकार करता हुआ आनन्द–कानन में महल के पुर कोठे की दीवार फाँद कर बगीचे में पहुँचा और कुमार को साथ लेकर श्मशान-स्थित देवी के मन्दिर में आ गया।

अन्ततः 'मञ्जुवादिनी' से विश्रुत का विवाह हो गया। शुभदिवस में पुरोहित के द्वारा राजकुमार 'भाष्करवर्मा' का मुण्डन संस्कार तथा फिर यज्ञोपवीत कराया गया। राजकुमार ने राजनीति की शिक्षा प्राप्तकर राजकार्य का संचालन प्रारम्भ कर दिया। दुर्बलता से बड़ा कोई पाप नहीं ऐसा सोचकर शक्ति को बढ़ाने का उद्योग भी करने लगा।

उपसंहार–

इसके अन्तर्गत क्रमशः विश्रुत ने किस प्रकार 'वसन्तभानु' के साथ युद्ध किया। 'वसन्तभानु' के मृत्यूपरान्त 'भाष्करवर्मा' राजा बनता है तथा विश्रुत के उत्कलाधिपति 'प्रचण्डवर्मा' का राज्य प्राप्त हुआ इसी का वर्णन है जो इस प्रकार है–

विश्रुत अपने विरोधी अश्मकेन्द्र 'वसन्तभानु' की तुलना में सैन्यशक्ति एवं नीतिबल आदि विषयो में अपने को अधिक समर्थ समझकर उसे पराजित करके 'अनन्तवर्मा' के पुत्र 'भाष्करवर्मा' को अपने पितृपद पर बैठाने के उपायों का चिन्तन करने लगा। वह गुप्तचरों की सहायता से अश्मकेन्द्र की सेना में फूट डाल कर उन्हें अपने अनुकूल कर लिया तथा 'वसन्तभानु' पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में 'वसन्तभानु' की मृत्यु हो जाती है और उसकी सैन्यशक्ति को भी अपने प्रभाव में लेकर विश्रुत 'भाष्करवर्मा' का राज्याभिषेक कर उसे अपने पितृपद पर आसीन कर दिया।

इसके पश्चात् अङ्गराज 'सिंहवर्मा' की सहायता के लिए गये विश्रुत से 'राजवाहन' का मिलन हुआ। इस तरह सभी कुमारों 'उपहारवर्मा', 'अर्थपाल', 'प्रमति', 'मित्रगुप्त', 'मन्त्रगुप्त', 'पुष्पोद्भव', 'सोमदत्त' एवं 'राजवाहन' का मिलन हो जाता है। इसी समय 'पुष्पपुरी' राजधानी से 'राजहंस' का पत्र प्राप्त होता है। पिता की आज्ञा शिरसा स्वीकार करके 'राजवाहन' अपने समस्त मित्रों के साथ अपने पिता तथा माता के चरणों का दर्शन करता है। सभी मित्र अपनी दिग्विजय की कथा सुनाते हैं। महर्षि 'वामदेव' के निर्देशानुसार 'राजहंस' एवं 'वसुमति' को वानप्रस्थ प्राप्त कर लेने के पश्चात् 'राजवाहन' 'पुष्पपुर' के राजसिंहासन पर आसीन हुआ तथा शेष सभी कुमार महाराज 'राजवाहन' की आज्ञा लेकर अपने–अपने प्राप्त किये हुए राज्य को लौट गये। इस प्रकार 'दशकुमारचरित' की कथा समाप्त होती है।

अवन्तिसुन्दरी –

'अवन्तिसुन्दरी' 'दण्डी' की मौलिक गद्य–काव्यात्मक रचना है, जो 'बाणभट्ट' के 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' से पूर्णरूप से प्रभावित है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ 'हर्षचरित' की भाँति प्राचीन श्रेष्ठ कवियों एवं उनके कृतियों के गौरव को 27 श्लोकों में प्रतिपादित किया गया है जिसका साहित्यिक विकास क्रम के आकलन में बहुत बड़ा महत्त्व है। तदन्तर वर्णनात्मकगद्य का आरम्भ 'काञ्ची' नगरी के वर्णन से होता है। पल्लवनरेश 'सिंहविष्णु' 'दण्डी' के प्रपितामह 'दामोदर' को अपने दरबार में आमन्त्रित करता है। यही 'दामोदर' 'भारवि' का परम मित्र था। कवि अपने पूर्वजों के वृत्तान्त से ही अपनी आत्मकथा की अवतारणा करता है। तत्पश्चात 'दण्डी' ने अपने जीवन की अभावग्रस्तता एवं अपने मित्रों के सम्बन्ध में वर्णन किया है। मित्रों के ही आग्रह पर ही वे 'अवन्तिसुन्दरी' कथा का प्रारम्भ करते हैं। मगधराज 'राजहंस' के राजवैभव का वर्णन करते हुए राजधानी 'कुसुमपुर' (पाटलिपुत्र) की अत्यन्त समृद्धि का परिचय दिया है। राजहंस अपने चार मन्त्रियों 'सुमति', 'सुमित्र', 'सुश्रुत' एवं 'सुमन्त्र' को शासनभार समर्पित कर अपनी रानी 'वसुमती' के साथ षडऋतुओं के आनन्द का अनुभव करने लगता है। 'नरवाहनदत्त' के साथ 'वासवदत्ता' की तरह वसुमति गर्भवती होती है। इसी बीच गुप्तचर 'आजीवक' मालव (अवन्ति) से आता है और सूचना देता है कि 'राजहंस' से पराजित उनका शत्रु 'मानसार' बदला लेने के लिए शिव की तपस्या करके दैवी शस्त्र प्राप्त किया है। जो 'राजहंस' के राज्य पर आक्रमण करना चाहता है। 'राजहंस' यह समाचार सुनकर तुरन्त 'मानसार' से युद्ध के लिए प्रस्थान करता है। दोनों में भयङ्कर युद्ध होता है। राजहंस को पराजय का सामना करना पड़ा है। वे 'ऋषिवामदेव' की आज्ञा पर अपने पुत्र जन्म की प्रतीक्षा करते हैं। कुछ समय बाद उनका पुत्र जन्म लेता है। उसका नाम राजवाहन रखा गया। राजवाहन जब युवावस्था का होता है तो विश्वविजय के लिए निकलता है। उसी क्रम में उसकी मुलाकात मालवराजकुमारी 'अवन्तिसुन्दरी' से हो जाती है। 'अवन्तिसुन्दरी' का सौन्दर्य वर्णन अत्यधिक रूचिकर ढंग से किया गया है। 'राजवाहन' तथा 'अवन्तिसुन्दरी' के मधुर मिलन के ही फलस्वरूप मालव पर अधिकार होता है। इस प्रकार यह 'अवन्तिसुन्दरी' कथा ग्रन्थ है, जिसकी संरचना उदात्तशैली में की गई है। समास- बहुल तथा अल्पसमास दोनों प्रकार के पदों का प्रयोग प्रचुर रूप से हुआ है।

□□□

अध्याय-१

भौगोलिक-स्वरूप

भौगोलिक विषय सामग्री एक ऐसा विषय है जो केवल संस्कृत वाङ्मय में ही नहीं अपितु विश्वसाहित्य में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। लेखक स्वरचना में प्रसंगवश ऐसे अनेक स्थानों का उल्लेख कर देता है जिनके आधार पर तत्कालीन भौगोलिक स्थिति का परिचय प्राप्त हो जाता है। यद्यपि भौगोलिक वर्णन करना लेखक का मूल उद्देश्य नहीं होता, परन्तु प्राकृतिक सौन्दर्यों के वशीभूत हुआ कवि सागर, नदी, पर्वत, वन, वृक्ष, नगर, प्रदेश आदि का ऐसा चित्र उपस्थित कर देता है, जो भौगोलिक-स्वरूप को प्रतिबिम्बित करने लगता है।

संस्कृत को हमारे यहाँ धार्मिकसाहित्य की संज्ञा दी गई है लेकिन यह केवल धार्मिक ही नहीं अपितु विश्वज्ञानकोश है। विश्व का ऐसा कोई विषय नहीं है जो संस्कृत के अन्तर्गत न आता हो। वह विज्ञान हो या गणित या अन्य विषय इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र सभी विषयों का ज्ञान कराते हुए यह हमें धर्म की ओर उन्मुख करती है। हमारे धर्म में प्रकृति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सूर्य, चन्द्र, वायु हमारे देवता हैं। पृथ्वी हमारी माता है। इसके वैविध्य का अथर्ववेद गान करता है।[1] गङ्गा, यमुना केवल नदियाँ नहीं प्रत्युत् समस्त पापों का हरण करने वाली हैं। वृक्ष आदि केवल प्रकृति के सुषमा नहीं बल्कि हमें शुद्ध प्राणवायु देते हैं। नगरों का विन्यास केवल सजावट मात्र नहीं अपितु सुरक्षित जीवन की पहचान है। प्रत्येक पर्वत का शिखर, प्रत्येक नदी, प्रत्येक उपयोगी वृक्ष और यहाँ तक की प्रत्येक दिशा की वायु हमारे धार्मिक जीवन से अभिन्न रूप से सम्बद्ध है। वेद की ऋचाओं का भी प्रथम दर्शन प्रकृति के सौन्दर्य के साथ हुआ। इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत-साहित्य से हमें अनेक भौगोलिक-स्वरूप का परिचय प्राप्त हो जाता है।

'कवि दण्डी' अपनी कथा-विन्यास के द्वारा अनेक भौगोलिक-स्वरूप का परिचय कराते हैं। उनकी कथा-विन्यास में मगध की राजधानी पुष्पपुर, अङ्ग देश की राजधानी चम्पा, श्रावस्ती तथा काशी, दामलिप्त नगर और कलिङ्ग से लेकर पश्चिम में उज्जयिनी, सौराष्ट्र, विदर्भदेश के साथ–साथ नर्मदा के मनोरम तट पर अवस्थित अन्य राज्य अवन्ति, मालवा, त्रिगर्त तथा इनके मध्य में पूर्वीसमुद्र से पश्चिमीसमुद्र तक फैले विन्ध्यकान्तारों का उल्लेख मिलता है। यहाँ भारत की उत्तरसीमा का अंकन हिमालय

---

1. अथर्ववेद, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, 1960, 12/1

के कैलाश शिखर से लेकर दक्षिण में केरल तक के विशाल भूभाग की संकल्पना प्रस्तुत की गयी है। तत्कालीन भारत अनेक छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त था। सभी राज्यों में आपसी संघर्ष भी चलता रहता था। राज्यों के अन्तर्गत अनेक नगरों का उल्लेख मिलता है। यह नगर अधिकतर नदियों के तट पर बसे हुए थे। अतः इन नगरों को तीर्थ के रूप में माना गया है। महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव के पूर्व भारत में 'सोलह' जनपद विद्यमान थे। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय तथा जैन ग्रन्थ भगवतीसूत्र में भी सोलह जनपदों का उल्लेख मिलता है। उन्हें जनपद के स्थान पर देश या राज्य कहा गया है।[1]

राज्य –

दण्डिकालीन भारत कई राज्यों में विभक्त था। सम्पूर्ण राज्यों की अपनी भौगोलिक सीमा होती थी। सभी लोग अपने राज्य के विकास के लिए कार्य करते थे। दण्डी की कृतियों में कुछ अधोलिखित राज्यों के उल्लेख मिलते हैं, जिससे भारत की तत्कालीन स्थिति एवं समृद्धि आदि के विषय में जानकारी प्राप्त होती है, उनका क्रमशः वर्णन किया जा रहा है–

अङ्ग –

प्राचीन सोलह जनपदों में अंग का विशेष महत्त्व था। 'कवि दण्डी' ने अंगदेश का उल्लेख दशकुमारचरित में किया है।[2] जिसकी राजधानी चम्पा थी।[3] "चम्पेय्य जातक के अनुसार चम्पानदी (वर्तमान चाँदन) अंग और मगध की विभाजक प्राकृतिक सीमा थी, जिसके पूर्व और पश्चिम में ये दोनों जनपद बसे हुए थे।"[4] इस प्रकार अंगदेश मगध के पूर्व में चम्पानदी के दूसरे तट पर बसा हुआ था। अंग की उत्तरी सीमा कोसीनदी और दक्षिणी में उसका विस्तार समुद्र पर्यन्त था।[5] कनिंघम का मत है कि अङ्गदेश का विस्तार वर्तमान में बिहारप्रान्त के भागलपुर और मुंगेर जिलों के समीपतम् था।[6] पुराणों में भी इसका उल्लेख आया है कि बलि के पुत्र अङ्ग ने अपने नाम पर ही इस राज्य की स्थापना की।[7] अङ्ग का उल्लेख दण्डी ने अवन्तिसुन्दरी में भी

---

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 4।
2. वही, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 129।
3. वहीं, पृ. 208।
4. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1991, पृ. 287।
5. वही, पृ. 287।
6. कनिंघम, अलेक्जेंडर, ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, लंदन, 1871, पृ. 546।
7. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 9/23/6।

किया है[1] तथा अङ्गराज को यहाँ राजा कहा है।[2]

अश्मक (अस्सक) –

सोलह जनपदों में अश्मक राज्य भी एक था। दण्डी ने अश्मक राज्य का उल्लेख दशकुमारचरित में किया है।[3] "दक्षिण भारत की प्रमुख नदी गोदावरी के तट पर स्थित पोटेन अथवा पोतली नामक नगरी थी जो इस महाजनपद की राजधानी थी। प्रो0 भण्डारकर के अनुसार अस्सक के उत्तर की ओर मालव तथा दक्षिण की ओर कलिङ्ग अवस्थित था।"[4]

आन्ध्र –

'आन्ध्र देश' के राजा जयसिंह थे।[5] वर्तमान में यह 'तैलना' है। उस समय 'आन्ध्रदेश' गोदावरीनदी के मुहाने पर समाविष्ट था।[6] बलि के पुत्र 'आन्ध्र' ने अपने नामपर ही इस प्रदेश की स्थापना किया था।[7]

ऋषीक देश–

महाकवि 'दण्डी' ने ऋषीकदेश का भी उल्लेख किये हैं।[8] इसका उल्लेख 'रामायण'[9], 'महाभारत'[10] तथा 'बृहत्संहिता'[11] में भी मिलता है।

कलिङ्ग –

दण्डी ने मित्रगुप्त–चरित में 'कलिङ्गदेश' का उल्लेख किया है। यह 'उड़ीसा के दक्षिण में गोदावरी नदी के मुहाने तक बसा एक प्राचीन प्रदेश था।[12] 'कलिङ्गदेश' का उल्लेख कुरुरूप में पाणिनि ने भी किया है।[13] इस राज्य की राजधानी कंचनपुर (भुवनेश्वर) थी।[14] 'कनिंघम' का मत है कि कलिङ्ग जनपद की प्रथम राजधानी

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 81।
2. वहीं, पृ. 74।
3. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 426, 59, 60, 61, 62, 63।
4. श्रीवास्तव, एम.पी., एशिया बुक कम्पनी, इलाहाबाद, पृ. 103।
5. दशकुमारचरितम्, सप्तमोच्छ्वास, मो.ला.ब.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 222।
6. वही, टिप्पणी, 2।
7. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 9/23/6।
8. दशकुमारचरितम्, मो.ला.ब.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 265।
9. रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2064, 4/41।
10. महाभारत, भीष्मपर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 9/5/13।
11. बृहत्संहिता, मो.ला.ब.दा., देलही, 1982, 14/13।
12. दशकुमारचरितम्, मो.ला.ब.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 213।
13. अष्टाध्यायी, चौ.ओ. वाराणसी, 1977, 4/1/170।
14. ओथ नियुक्ति भाष्य, बम्बई, 1901, 30/97।

चिकाकोल थी जो कलिङ्ग पाटम से 20 मील दक्षिण–पश्चिम में स्थित थी। यह जनपद 5000 अर्थात् 833 मील विस्तृत भूभाग में फैला हुआ था।[1]

काशी –

दण्डी ने काशी राज्य का उल्लेख बहुत विस्तारपूर्वक किया है।[2] यह प्राचीन सोलह जनपदों में अपना विशेष स्थान रखता था। काशीजनपद की राजधानी प्रसिद्ध नगर वाराणसी थी। 'दीघनिकाय' के महापरिनिर्वाण–सूत्र तथा महासुदस्सन में वाराणसी की गणना बुद्धकालीन भारत के छह प्रसिद्ध महानगरों में की गई है।[3] काशीजनपद के पूर्व में मगध[4] पश्चिम में वत्स, उत्तर में कोसल और दक्षिण में उसकी सीमा सम्भवतः सोननदी तक थी, लेकिन जातक के अनुसार इसकी दक्षिणी सीमा गोदावरी तक ही मानी गयी थी।[5] वर्तमान में यह उत्तरप्रदेश का वाराणसी जिला है।

कुन्तल –

'कुन्तल' देश 'दशकुमारचरित' में वर्णित है।[6] 'विसेंट स्मिथ'[7] के अनुसार भीमा और वेत्रवती नदियों के बीच में यह प्रदेश था। इसकी पश्चिमी सीमा पर शिमोगा, चीतल–दुर्ग, वेल्लारी, धारवाड़ और बीजापुर आदि पश्चिमी घाट के इलाके थे। यह एक प्राचीन देश है, जो चोल देश के उत्तर में अवस्थित था। इसकी राजधानी 'कल्याण' या काल्यानि–दूर्ग थी।

कोङ्कण–

'कवि दण्डी' ने कोङ्कण के राजा कुमारगुप्त का वर्णन किया है।[8] यह दक्षिण भारत का पुराना देश है। सह्याद्रि और समुद्र के मध्य का क्षेत्र जिसे कोङ्कण कहते हैं।[9] ह्वेनसांग के अनुसार कोङ्कण द्राविड से 330 मील उत्तर–पश्चिम में स्थित था।[10]

---

1. कनिंघम अलेक्जेंडर, ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, लंदन, 1871, पृ. 550।
2. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 257।
3. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1991, पृ. 305।
4. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 5, 18, .9, 54।
5. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1991, पृ. 301।
6. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, मो.ला.ब.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 265।
7. वही, टिप्पणी।
8. वही, पृ. 265।
9. वही, पृ. 6।
10. यादव डॉ. झिनकू, समराइच्च कहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1977, पृ. 16।

'कालिदास' ने इसे उपरांतदेश कहा है।[1] कल्याण तथा बम्बई आदिनगर इसी जनपद के अन्तर्गत आते थे।[2] 'नेमिचन्द्र' इसको पश्चिमीसमुद्र के तट का राज्य मानते हैं।[3]

कौशल–

दण्डी ने श्रावस्ती नगर के वैभव का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है।[5] श्रावस्ती ही कौशलराज्य की राजधानी थी। रामायण[6] तथा महाभारत[7] में इस जनपद का उल्लेख आया है। 'कालिदास' ने भी इसका राजधानी शरावती नाम से किया है।[8] द्युतिमान के पुत्र कुशल के ऊपर ही इसका नाम कौशल पड़ा, राम यहीं के राजा थे।[9] एस.एम. अली के अनुसार सरयू और ताप्ती का दोआब ही कौशलजनपद कहलाता था।[10] इस महाजनपद के पश्चिम में पांचाल, दक्षिण में सपिकानदी, पूर्व में सदानीरनदी तथा उत्तर में नेपाल का पहाड़ी क्षेत्र था। इस राज्य का आधुनिक रूप अवधप्रान्त कहा जा सकता है। इसमें तीन प्रमुख नगर हैं– अयोध्या, साकेत, श्रावस्ती।[11] वर्तमान में यह क्षेत्र उत्तरप्रदेश के फैजाबाद जिला के अन्तर्गत आता है।

नासिक्य–

आचार्य 'दण्डी' ने नासिक्य प्रान्त का भी उल्लेख किये हैं।[12] यह दक्षिण भारत का एक प्राचीन देश है, जिसे लोग गोदावरी–तटवर्ती बताते हैं।[13] वर्तमान में यह महाराष्ट्रप्रान्त का नासिक नगर है। 'बृहत्संहिता'[14] में दक्षिण भारतीय देशों के साथ इसका उल्लेख किया गया है।

---

1. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 4।
2. यादव डॉ. झिनकू, समराइच्च कहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1977, पृ. 16।
3. शास्त्री नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, श्री गणेश प्रसाद ग्रन्थमाला वर्णी, वाराणसी, 1968, पृ. 56।
4. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास उत्तरपीठिका चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 301, 2, 4, 6, 10, 30, 443, 455।
5. रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2064, श्लोक 2/68/13।
6. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 11/30/23।
7. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 15/97।
8. शर्मा ज़वाहर लाल, श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. 296।
9. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 9/10/4।
10. अली, एस.एम., दी ज्योग्राफी ऑफ दी पुराणाज, दिल्ली, 1966, पृ. 135।
11. श्रीवास्तव, एम.पी., प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला एवं दर्शन एशिया बुक कम्पनी, इलाहाबाद, पृ. 101।
12. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, मो.ला.ब.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 265।
13. वही, पृ. 265, टिप्पणी 7।
14. बृहत्संहिता, मो.ला.ब.दा. दिल्ली, 1982, 14/13।

पुण्ड्र–

'कवि दण्डी' प्राचीन राज्यो में पुण्ड्र का भी वर्णन करते है, जहाँ अच्छी पैदावार नहीं होती थी।[1] 'सिकदार' का मानना है कि इसकी राजधानी 'विन्धगिरि' के समीप 'सतद्वारा' थी।[2] 'महाभारत' में भी 'पुण्ड्र' राजाओं का उल्लेख प्राप्त होते है।[3] 'डॉ. झिनकू यादव' इसके सम्बन्ध में लिखते हैं कि "पुण्ड्रवर्धन का उल्लेख गुप्तकाल में बुधगुप्त के दामोदर अभिलेख तथा ताम्रपत्र अभिलेख में हुआ है। पुण्ड्र जनपद के अन्तर्गत ही पुण्ड्रवर्धन नामक नगर था जो जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है।"[4]

पौर–

'कवि दण्डी' पौर जनपद का भी उल्लेख करते हैं जो सम्भवतः दक्षिण का ही एक राज्य था।[5]

मगध–

प्राचीन राज्यों में मगध का स्थान अतिमहत्त्वपूर्ण था, वह सभी सुविधाओं से सम्पन्न था। मगधदेश की राजधानी पुष्पपुरी थी।[6] महात्माबुद्ध के जीवन–काल में जो चार राज्य भारतवर्ष में विद्यमान थे, उनके नाम मगध, कोसल, बंस, और अवन्ती है।[7] तत्कालीन मगध महाजनपद का विस्तार आधुनिक बिहार राज्य के पटना तथा गया जिले के निकटवर्ती क्षेत्र तक ही था। इसकी राजधानी राजगृह अथवा गिरिव्रज थी।[8] मगध के पूर्व में अङ्ग, पश्चिम में काशी अवस्थित था। दण्डी ने अवन्तिसुन्दरी में इस तथ्य का स्वयं उल्लेख किया है कि काशी से पूर्व का देश मगध था।[9] मगध के दक्षिण–पूर्व में सुह्यजनपद था और दक्षिण में कलिङ्गारण्य तथा मगध के उत्तर में

---

1. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 252, 3।
2. सिकदार सी., स्टडीज इन यमवती सू., रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत, जैनोलोजी एण्ड अंहिसा, मुजफ्फरपुर, बिहार, 1964, पृ. 537।
3. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, सभापर्व, 78, 93।
4. यादव डॉ. झिनकू, समराइज्ड कहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1977, पृ. 17–18।
5. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 218।
6. वही, पृ. 4, 8, 16।
7. उपाध्याय भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रभाग, 1991, पृ. 140।
8. श्रीवास्तव एम.पी., प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला एवं दर्शन, एशिया बुक कम्पनी, इलाहाबाद, पृ. 102।
9. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 5, 18, 19, 54, 62, 103, 109।

वज्जि राज्य था।[1] गङ्गानदी मगध और वज्जिगणराज्य के मध्य की सीमा थी। मगध गङ्गा के दक्षिण में था और वज्जि गणतन्त्र उसके उत्तर में।[2] पुराणों में भी इस राज्य का नियन्त्रण जरासंध के द्वारा वर्णित मिलता है।[3] 'काव्यादर्श' में मगध क्षेत्र में बोले जाने वाली भाषा को मागधी कहा गया है।[4] इस प्रकार मगध राज्य का अस्तित्व अतीव प्राचीन काल से ही प्राप्त होता है।

मालवा –

मालवा का प्राचीन नाम अवन्ती था। यह सोलह जनपदों में से एक था। "अवन्तीदेश के दो भाग थे, एक उत्तरीभाग और दूसरा दक्षिणभाग, जिनके बीच में होकर वेत्रवतीनदी बहती थी । दक्षिणीभाग को पालिसाहित्य में अवन्ति दक्षिणापथ कहा गया है और उत्तरी भाग को हम उत्तरअवन्ति कह सकते हैं। अवन्ति दक्षिणापथ की राजधानी माहिष्मती नामक नगरी थी और उत्तर अवन्ति की उज्जयिनी।"[5] दण्डिकालीन मालवा की राजधानी भी उज्जैन ही थी।[6] 'दशकुमारचरित'[7] और 'अवन्तिसुन्दरी'[8] में मालवराज्य का वर्णन अत्यन्त विस्तार से आया है। दशकुमारचरित में मालव का राजा 'मानसार' बतलाया गया है।[9] अवन्तिसुन्दरी में भी मालवेश के रूप में 'मानसार' का वर्णन है।[10] पौराणिकपरम्परा के अनुसार इस जनपद को मध्यदेश के अन्तर्गत माना गया है।[11] रैप्सन के अनुसार उज्जैन अथवा उज्जयिनी शिप्रानदी के तट पर स्थित थी, जो कि अवन्ति की राजधानी थी। उज्जैन आधुनिक मध्य-भारत अथवा ग्वालियर में स्थित है।[12] जैनग्रन्थ 'निशीथचूर्णी' में भी अवन्ति का एक जनपद के रूप में उल्लेख

1. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1991, पृ. 145।
2. वही।
3. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 10/50/2।
4. काव्यादर्श, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1984, 1/36।
5. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1991, पृ. 229।
6. दशकुमारचरितम्, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 69, 72, 101, 178, 344।
7. वही, पृ. 13, 214।
8. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1924, पृ. 38।
9. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 13, 25।
10. अवन्तिसुन्दरी, अ.शि.वि.वि., 1924, पृ. 38 – तत्र च मालवेश्वरो मानसारो नाम नरपति-रुत्पातप्रतिरोपितस्त्वया त्वच्चरणकमलरेणुनिकरनिचितमतिभरमिव- दुःख दुःखेन शिरोऽवहतु।
11. मत्स्यपुराण, मे.च.ल.दा., देलही, 1984, अध्याय 16।
12. यादव डॉ. झिनकू, समराइच्च कहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी 1977, पृ. 12।

किया गया है, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।[1] 'राजहंस' के पुत्र 'राजवाहन' ने अवन्ति को जीत कर उसे मगध में मिला लिया था क्योंकि 'राजवाहन' का राज्याभिषेक 'पुष्पपुर' राज्य और 'मानसार' के राज्य, दोनों के रूप में हुआ था।[2]

मिथिला –

दण्डी ने अपनी कृतियों में मिथिलाराज्य का उल्लेख किया है जिसका राजा प्रहारवर्मा था।[3] इसे विदेहपुरी भी कहा गया है।[4] यह उस काल का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था।[5] यह प्राचीन नगर निमि के पुत्र जनक द्वारा बसाया गया है।[6]

'स्कन्दपुराण' के अनुसार यह गण्डकी के पार का उत्तरी बिहार का प्रदेश था। दरभंगा जिले में वर्तमान जनकपुर ही मिथिला था, जो इस प्रदेश की राजधानी के रूप में स्वीकार किया जाता है।[7] 'शतपथब्राह्मण' में भी विदेह राज्य का उल्लेख है।[8] 'कालिदास' ने 'रघुवंश' महाकाव्य में विदेह राज्य का वर्णन किया है।[9] डी.सी. सरकार ने "इसे ही उत्तरकाल में तिरभुक्त अथवा तिरभुक्ति कहा है, जो वर्तमान समय में तिरहुत नाम से प्रसिद्ध है। यह राज्य गण्डकीनदी से चम्पारन तक फैला हुआ है।"[10] जिसके अन्तर्गत सीता–गढ़, जनकपुर, सीताकुण्ड, तिरहुत का उत्तरी भाग तथा चम्पारन का पश्चिमोत्तर भाग स्थित है। प्राचीन विदेह जनपद की सीमा के उत्तर में नेपाल की तराई, पूर्व में कोशीनदी, दक्षिण में वैशाली जनपद तथा पश्चिम में सदानीरानदी स्थित थी।[11]

---

1. निशीथचूर्णि सूत्र, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1957, 1, पृ. 13, 102।
2. दशकुमारचरितम्, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 39।
3. वही, पृ. 24, 25, 29, 214।
4. वही, तृतीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 213।
5. श्रीवास्तव, एम.पी., प्रांचीन भारतीय संस्कृति, कला एवं दर्शन, एशिया बुक कम्पनी, इलाहाबाद, पृ. 105।
6. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 10/13/13।
7. शर्मा डॉ. जवाहर लाल, श्रीमद्भागवतपुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. 293।
8. शतपथब्राह्मण, चौ.सं.सं., वाराणसी, 1998, 1/4/1/10।
9. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 12/26।
10. सरकार, डी.सी., स्टडीज इन दी ज्योग्राफी आफ ऐंसियेन्ट एण्ड मेडविल इण्डिया, मो.ला.ब., वाराणसी, 1960, पृ. 95।
11. यादव, डॉ. झिनकू, समराइच्च कहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1977, पृ. 19।

मुरला–

मुरला वर्तमान केरल है।[1] मुरला एक प्राचीन नदी है जिसे वर्तमान में काली नदी माना जाता है। इस नदी का वर्णन 'कालिदास' ने 'रघुवंश'[2] तथा 'भवभूति' ने 'उत्तररामचरित'[3] में किया है। इस नाम के आधार पर केरल-वासी मुरलयी कहे जाते हैं। प्राचीन केरल कावेरीनदी से उत्तर-पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच का क्षेत्र था।[4] केरलराज्य का उल्लेख अवन्तिसुन्दरी में भी आया है।

विदर्भ –

विदर्भ बहुत प्राचीन राज्य है। जिसका उल्लेख पुराणों से भी प्राप्त होता है।[5] 'दण्डी' ने भी विदर्भ के राजा 'पुण्यवर्मा' का उल्लेख किया है।[6] रुक्मिणी के पिता इसी राज्य के राजा थे।[7] कुण्डिनपुर इस राज्य की राजधानी थी।[8] 'एस.एम. अली' के अनुसार यह गोदावरी का बेसिन क्षेत्र था। पैन गङ्गा इसकी दक्षिणी सीमा थी।[9] वर्तमान में यह बेरार क्षेत्र के अन्तर्गत आता है।[10]

वानवास्य –

'कविदण्डी' ने वानवास्य राज्य का भी उल्लेख किये हैं।[11] 'पी. पीटरसन' के अनुसार 'यह दक्षिणभारत में वनवासी नामक राज्य था, जिसकी खोज कर्नल 'कोलिन मैकेंजी' ने सुण्डा जिले में प्राप्त अवशेषों से की थी। 'अगाशे' के अनुसार वनवासी वर्तमान कनारा का उत्तरभाग है, जहाँ छठी तथा सातवीं सदी में कदम्ब-वंश का राज्य था।''[12] इसका उल्लेख हमें 'महाभारत' में भी प्राप्त होता है।[13]

---

1. दशकुमारचरितम्, मो.ला.ब.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 265।
2. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 4/55।
3. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, अंक 3।
4. दशकुमारचरितम्, मो.ला.ब.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 265।
5. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 9/22/45।
6. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, मो.ला.ब.दा. वाराणसी, 1972, पृ. 238।
7. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 10/52/16, 17।
8. वही, 10/53/7–21, 10/54/20।
9. अली, एस.एम., द ज्योग्राफी ऑफ द पुराणाज, नई दिल्ली, 1966, पृ. 155।
10. शर्मा, डॉ. जवाहरलाल, श्रीमद्भागवत् पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. 294।
11. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, मो.ला.ब.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 264।
12. वही, टिप्पणी, 2।
13. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, भीष्मपर्व, 9/58–59।

शूरसेन –

शूरसेन एक प्राचीन राज्य था, जिसकी राजधानी 'मथुरा' थी।[1] इसी प्रदेश को 'माथुर' भी कहा गया है।[2] 'शूरसेन' को 'माथुर' और 'शूरसेन' का राजा कहा गया है।[3] 'भागवतपुराण' में इस प्रदेश को मधु–प्रदेश भी कहा गया है।[4]

सुह्य –

'दण्डी' ने सुह्यप्रान्त का उल्लेख किया है।[5] 'बलि' के पुत्र 'सुह्य' ने इस प्रदेश को बसाया था।[6] 'डॉ. एस.वी. चौधरी' के मतानुसार सुह्यराज्य का संभवतः दक्षिणी भाग था। यह वर्तमान में हावड़ा और मिदनापुर जिले का क्षेत्र है।[7]

त्रिगर्त–

'त्रिगर्त' एक प्राचीन राज्य है।[8] यह प्रसिद्ध प्राचीन रेगिस्तानी देश 'शतद्रु' नदी से पूरब में स्थित था। इसके अन्तर्गत 'सतलज' और सरस्वती नदियों के बीच का प्रदेश भी आता था। इस क्षेत्र के अर्न्तगत उत्तर का भाग आधुनिक 'लुधियाना' और 'पटियाला' है।[9]

सौराष्ट्र –

मित्रगुप्त ने निम्बवती की कहानी में सौराष्ट्र देश के वलभी नामक नगर का उल्लेख करते हैं।[10] वर्तमान में यह 'काठियावाड़' है। इसका द्वितीय नाम 'आनर्त' है तथा इसकी राजधानी 'द्वारका' थी।[11] 'भागवतपुराण' के अनुसार यह एक सम्पन्न जनपद था। 'व्यास जी' सरस्वतीनदी को पार करके इस प्रदेश में पहुँचे थे।[12]

नगर –

प्राचीन राज्यों का वर्णन करने के उपरान्त हम प्राचीन नगरों का वर्णन करना चाहेगें जिनसे प्राचीन तीर्थ एवं रहन–सहन व विविध सांस्कृतिक तत्त्वों की जानकारी प्राप्त होगी तथा प्राचीन काल में नगर विन्यास की दृष्टि भी मिलेगी। जो क्रमशः हैं–

1. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 366।
2. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 9/1/27।
3. वही, 10/1/27।
4. वही, 1/11/19।
5. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 319।
6. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 9/23/6।
7. चौधरी डा. एस.वी., पब्लिक सेटिलमेंट इन एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ. 159।
8. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, मो.ला.ब.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 182।
9. वही, टिप्पणी, 3।
10. वही, पृ. 196।
11. वही, टिप्पणी।
12. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 3/1/24।

अचलपुर –

कवि दण्डी ने अपने वंशपरिचय में अचलपुर का नामोल्लेख किया है।[1] अचलपुर वर्तमान में महाराष्ट्र के नासिक जनपद के अन्तर्गत आता है।[2]

आनन्दपुर –

आचार्य दण्डी ने आनन्दपुर का भी उल्लेख अपने वंशपरिचय में ही किये हैं।[3] यह स्थान भारत के उत्तर–पश्चिम में निर्धारित किया गया है। ह्वेनसांग के अनुसार यह नगर वल्लभी के उत्तर–पश्चिम में स्थित था,[4] जिसे व्यापार एवं वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र माना जाता था। 'धमेन्द्रकुमारगुप्त' इसे पञ्चनद प्रदेश के अन्तर्गत मानते हैं।[5]

उज्जयिनी –

कविदण्डी ने अपनी कृतियों में उज्जयिनी का विशेष रूप से वर्णन किये हैं।[6] इसे महाकालेश्वर की नगरी कहा जाता है। यहाँ प्रमुख रूप से शिव अनुयायियों का निवास था। यह तत्कालीन भारत का समृद्धतम् नगर था। यह नगर सभी सुविधाओं से पूर्ण था। यहाँ आगमन की सुविधाए उत्तम थी। 'कनिंघम' महोदय के अनुसार यह आधुनिक 'उज्जैन' था जो 'शिप्रानदी' के तट पर स्थित था।[7] 'कालिदास' भी मेघमार्ग के वर्णन में उज्जयिनी का विशेष रूप से वर्णन किये हैं जो अवन्ति की राजधानी 'विशाला' अर्थात् उज्जयिनी के रूप में आयी है।[8] 'कालिदास' ने इसे 'शिप्रानदी' के तट पर स्थित बताया है।[9] यहाँ 'महाकाल' का मन्दिर है।[10] 'दण्डी' ने 'उज्जयिनी' को 'अवन्ति' भी कहा है।[11] 'अवन्तिसुन्दरी' में भी दण्डी ने अवन्ति का उल्लेख किया

---

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. 1954, पृ. 9।
2. काव्यादर्श, मे.च.ल.दा. नई दिल्ली, 1973, भूमिका, पृ. 39।
3. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. 1954, पृ. 9।
4. कनिंघम अलेजेंडर, ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, लन्दन, 1971, पृ. 416।
5. गुप्त धमेन्द्रकुमार, सोसायटी एण्ड कल्चर इन द टाइम आफ दण्डिन, मे.च.ल.दा. नई दिल्ली, 1972, पृ. 19, 92–93।
6. दशकुमारचरितम्, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 67, 72, 101, 178, 344, 467।
7. कनिंघम अलेजेंडर, ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, लन्दन, 1971, पृ. 412।
8. मेघदूत, कृ.दा.अ. वाराणसी, 2002, पूर्वमेघ, 31।
9. वही, 32।
10. वही, पूर्वमेघ, 37।
11. पंकज एन.क्यू., दशकुमारचरित – ए कल्चरल एस्टडी, कला प्रकाशन, वाराणसी, 2002, पृ. 35।

है।[1] श्रीमद्भागवतपुराण में इसे अवन्तीपुर कहा गया है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि दण्डी ने उज्जैन का ही वर्णन विभिन्न नामों से किया है।

काञ्ची –

'काञ्ची' का उल्लेख भी 'दण्डी' ने अपने वंश वर्णन क्रम में ही किया है।[3] 'श्रीमद्भागवतपुराण' में यहाँ 'बलराम' तीर्थयात्रा पर गये थे।[4] 'काञ्ची' भारत के सातनगरों में से एक है।[5] यह वर्तमान में 'कांजीवरम' है। दण्डी ने काञ्ची को द्रविड़देश की राजधानी बतलाया है।[6] यह वेत्रवतीनदी के तट पर वसी है और मद्रास से पश्चिम–दक्षिण दिशा में 67 किलोमीटर की दूरी पर है।[7] यहाँ के लोग अत्यन्त शान्तिप्रिय होते थे।[8]

खेटकपुर –

'दण्डी' ने खेटकपुर का उल्लेख किया है,[9] जो एक प्राचीन नगर था। यह व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। अतः यहाँ बहुत से व्यापारी रहते थे।

चम्पापुरी –

'दण्डी' ने चम्पापुरी का उल्लेख कई स्थानों पर किया है।[10] यह अङ्ग देश की राजधानी थी, जो पहले मालिनी के नाम से विख्यात थी।[11] यह चम्पा नगरी, चम्पा मालिनी, चम्पावती, तथा चम्पापुरी आदि विभिन्न नामों से जानी जाती थी। 'महाभारत' के अनुसार यह एक प्रसिद्ध तीर्थ था।[12] इसे 'हरितपुत्र' चम्प ने बसाया था।[13] वर्तमान में यह भागलपुर जिले के पश्चिम में चारमील की दूरी पर स्थित है।[14]

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. 1954, पृ. 82।
2. श्रीमद्भागवतपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 10/45/31।
8. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. 1954, पृ. 6, 17।
4. श्रीमद्भागवतपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2062,10/79/14।
5. ब्रह्माण्डपुराण, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1983, 4/40/91 – अयोध्या मथुरा माया काशी काँची ह्यवन्तिका। एता पुण्यतमाः प्रोक्ताः पुराणमुत्तमोत्तमाः।।
6. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, मो.ला.ब.दा. वाराणसी, पृ. 186।
7. वही, टिप्पणी, 2।
8. वही, पृ. 186।
9. वही, पृ. 365, 366।
10. वही, पृ. 149, 467।
11. मत्स्यपुराण, मे.च.ल.दा. दिल्ली, 1984, अध्याय 48।
12. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, वनपर्व 85/14।
13. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 9/8/1।
14. शर्मा डॉ. जवाहरलाल, श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. 300।

दामलिप्त –

'सुह्मप्रदेश' के अन्तर्गत 'दामलिप्त' नगर आता था,[1] जो अत्यन्त समृद्धशाली नगर था। यहाँ मेला आदि का उत्सव होता था।[2]

पुष्पपुर –

'दण्डी' ने पुष्पपुर नगर को अत्यन्त समृद्धशाली नगर के रूप में चित्रित किया है। यह 'मगध' की राजधानी थी।[3] जिसे पाटलीपुत्र, कुसुमपुर, कुसुमध्वज, पुष्पभद्र आदि नामों से भी जाना जाता था। यह वर्तमान में बिहारराज्य की राजधानी पटना है। निशीथचूर्णी में भी इसका उल्लेख मिलता है।[4] यह नगर व्यापार–वाणिज्य का केन्द्र था। यहाँ की दुकाने रत्नादि से भरी होती थी।[5] पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में मेगस्थनीज लिखता है कि "पाटलिपुत्र एक समान्तर चतुर्भुज के रूप में है जिसके चारो ओर लकड़ी की दिवाल बनी हुई है। इस दिवाल में बड़े छेद बने हुए हैं जिनमें होकर वाण छोड़ा जा सके। इसमें एक खाई, सुरक्षा तथा पानी के बहाव के लिए निर्मित की गई है। दिवाल में 1570 गुम्बज एवं 64 फाटक लगे हुए है। नगर 80 स्टेडिया लम्बा तथा 15 स्टेडिया चौड़ा है। खाई 180 मीटर चौड़ी तथा 9 मीटर गहरी है।"[6]

मथुरा –

'दण्डी' ने 'शूरसेनप्रदेश' में एक मथुरा नाम की नगरी का उल्लेख किया है।[7] शत्रुघ्न ने लवणासुर को मारकर मथुरा नगर की स्थापना की थी।[8] इसे मधुपुरी भी कहा जाता है।[9] इसका उल्लेख हमे जैन पुराणों में मिलता है। मथुरा शूरसेन देश की राजधानी थी। यह उत्तरप्रदेश का एक जिला है जो यमुनानदी के तटपर स्थित है।[10] दण्डी ने मधुपुरी का भी 'दशकुमारचरित' में उल्लेख किया है।[11] इस सम्बन्ध

---

1. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. ।
2. वही।
3. वही, पृ. 4, 8, 16, 443, 464–65–66–68–70।
4. निशीथचूर्णी, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1957, 2, पृ. 95।
5. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 4।
6. सिंह डा. उजागिर, नगरीय भूगोल, उत्तर प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1974, पृ. 31।
7. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2007, पृ. 366।
8. श्रीमद्भागवतपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 9/11/14।
9. वही, 10/50/4।
10. मिश्र डा. देवीप्रसाद, जैनपुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1988, पृ. 425।
11. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास उत्तरपीठिका, मो.ला.ब.दा. वाराणसी, 1992, पृ. 196।

में 'विश्वनाथझाँ' का मत है कि मधुपुरी मथुरा को कहते हैं। यह भी संभव है कि पर्यायवाची के रूप में यह नाम प्रचलित रहा हो। 'मधु' एक राक्षस था, जिसके नाम पर मधुपुरी नाम पड़ा है।[1]

माहिष्मती –

दण्डी ने माहिष्मती नगर का उल्लेख किया है।[2] वस्तुतः अवन्तिदेश की दो राजधानियाँ थी। उत्तरीभाग की राजधानी उज्जयिनी और दक्षिणभाग की राजधानी माहिष्मती थी। यह प्राचीन सोलह जनपदों में से एक थी। दण्डी के समय में इस राज्य में अराजकता फैल चुकी थी।

वलभी –

दण्डी ने एक वलभीनगर का उल्लेख किया है,[3] जो भावनगर से पश्चिमोत्तर 16 किलोमीटर की दूरी पर स्थित वर्तमान विलवी जहाँ ऐतिहासिक अवशेष खुदाई से प्राप्त हुए है। 'बाम्बे गजेटियर' के अनुसार वलेह नामक आधुनिक स्थल ही प्राचीन वलभी है, जो कठियावाड़ से पूर्व था। इससे 40 किलोमीटर पूर्व भावनगर है और इतनी ही दूरी पर उत्तर में शत्रुञ्जय नामक स्थान है। नगरी का अर्थ राजधानी भी लिया जाता है, जिससे वलभी को 'सौराष्ट्र' की दूसरी राजधानी माना जा सकता है।[4]

वाराणसी –

'दशकुमारचरित' में उल्लिखित अर्थपाल की कथा में काशीप्रदेश की वाराणसी नगरी का वर्णन आया है।[5] जहाँ 'मणिकर्णिका' तीर्थ तथा 'काशीनाथ', 'अन्धकासुर', 'संहारक' आदि शिवमन्दिरों का भी उल्लेख किया गया है।[6] यह 'काशी' जनपद की राजधानी थी। 'वरूणा' और 'असि' दो नदियों के बीच में स्थित होने के कारण ही इसे वाराणसी कहा गया है। यह पूर्वी उत्तर प्रदेश का सबसे प्राचीन नगर है। जिसे 'रामलोचन सिंह', संसार का सबसे प्राचीन जीवित नगर मानते हैं।[7] यह नगर गङ्गा के अर्धचन्द्राकार रूप में फैला हुआ है। विभिन्न अवसरों पर 'गङ्गा' स्नान के लिए

---

1. दशकुमारचरितम् षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 196।
2. वही, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 444।
3. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, मो.ला.ब.दा. वाराणसी, 1972, पृ. 196।
4. वही, टिप्पणी, 2।
5. वही, चतुर्थोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 275।
6. वही।
7. सिंह रामलोचन, वनारस ए स्टडी इन अर्वन जागर्फी, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, 1955, पृ. 37।

यहाँ असंख्य लोग एकत्र होते हैं। इसका वर्णन जैन[1], बौद्ध[2] तथा पुराण[3] आदि ग्रन्थों में भी मिलता है।

विदेहपुरी –

विदेहपुरी बहुत प्राचीन नगर है जहाँ प्राचीन काल में राजाजनक राज्य करते थे। आचार्यदण्डी भी विदेहपुरी का उल्लेख करते हैं, जो धन–धान्य से सम्पन्न थी।[4] यह मिथिला विदेह की राजधानी थी जिसे तिरभुक्ति (आधुनिक तिरहुत) भी कहते हैं। यह नेपाल की सीमा पर स्थित आधुनिक जनकपुर नामक छोटे कस्बे को समीकृत करती है। इसके उत्तर में मुजफ्फरनगर और दरभङ्गा है।

विशालपुरी –

यह 'अवन्ति' जनपद के अन्तर्गत एक प्रधान एवं वैभव सम्पन्न नगरी थी जो मुजफ्फरपुर (बिहार) जिले में बेसाड़ नाम से जानी जाती है। 'रामायण' काल में यह गङ्गा के उत्तरी किनारे पर स्थित थी। यही बौद्धकाल की 'वैशाली' थी।[5] 'दशकुमारचरित' में इसे एक नगर के रूप में उल्लिखित किया गया है।[6] वर्तमान में यह नगर वद्रीविशाला के नाम से जाना जाता है, जिसे 'स्कन्दपुराण' में विशालवद्रीम् कहा गया है।[7]

श्रावस्ती –

'रामायण' में वर्णित हैं कि 'लव' ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' को बनाया था।[8] बुद्ध के समय में 'कोशल' के राजा प्रसेनजित 'श्रावस्ती' में ही राज्य करते थे।[9] 'दण्डी' भी श्रावस्ती का उल्लेख किये हैं, जहाँ 'त्रयम्बकमहादेव' जी के मन्दिर में महोत्सव आदि होते थे। लोग उत्सव देखने के लिए विभिन्न प्रान्तों से आते थे।[10] 'रघुवंश' में इसको शरावती कहा गया है।[11] "बुद्ध के समय इसका नाम सवत्थिपुर पड़ा और

1. निशीथचूर्णी 2, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1957, पृ. 417, 466, पु. नवन सुत्त, 1/37।
2. दीघनिकाय बौद्ध भारतीय, वाराणसी, 1996, 2–146, 3–141।
3. शिवपुराण, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1986, 2/1/5।
4. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 213।
5. व्यास शांतिकुमार, रामायण कालीन संस्कृति, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. परिशिष्ट 335।
6. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 51।
7. यादव डा. झिनकू, समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1977, पृ. 32।
8. रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2064, उत्तरकाण्ड, 108/5 – श्रावस्तीतिपुरी रम्या श्राविता च लवस्य च।
9. उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1992, पृ. 27।
10. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 301, 302, 303, 304, 310।
11. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 15/97।

आज यह सहेतमहेत कहलाती है। बुद्ध यहाँ 25 वर्ष रहे थे। यह उत्तर कोसलप्रदेश की राजधानी रह चुकी है। यह अयोध्या से उत्तर 93 किलोमीटर की दूरी पर इरावतीनदी के दक्षिण किनारे पर है।''

त्रिगर्त –

'दण्डी' त्रिगर्त नगर का उल्लेख 'दशकुमारचरित' में किये है।[1] यह प्रसिद्ध प्राचीन रेगिस्तानी देश है, जो शतद्रुनदी से पूर्व में था। यह प्रदेश 'सतलज' और 'सरस्वती' नदियों के मध्य स्थित था। इस क्षेत्र का उत्तरी भाग आधुनिक 'लुधियाना' और 'पटियाला' है।[2]

पर्वत –

हमारे देश की जलवायु एवं संस्कृति के विकास में पर्वतों का विशेष महत्त्व है। पर्वतों के आधार पर ही जलवायु एवं ऋतुपरिवर्तन होता है। भारत की उत्तरी तथा दक्षिणी सीमाओं पर फैली पर्वतश्रृंखलाओं के साथ अन्य पर्वतश्रृंखलाओं से इस देश का सांस्कृतिक स्वरूप उभर कर सामने आता है। ये पर्वत श्रृंखलाएं अति प्राचीन युग से ही भारतीय भूमि को घेरे हुए हैं। यह आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षाकवच है। दण्डी की कृतियों में निम्नलिखित पर्वतों का उल्लेख आया है –

दुर्दरपर्वत –

'दण्डी' ने 'दुर्दरपर्वत' का उल्लेख किया है।[3] यह दक्षिण में 'मैसूर' की दक्षिणी सीमा पर स्थित घाट जो मलयपर्वत से जुड़ा हुआ है।

मलयपर्वत –

'दण्डी' ने 'मलयपर्वत' का वर्णन 'दशकुमारचरित' में किया है।[4] 'कालिदास' ने इस पर्वत का वर्णन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रघुवंश' में किया है।[5] 'वी.सी.ला.' के अनुसार कावेरी के नीचे पश्चिमीघाट का फैला हुआ दक्षिणीभाग ही मलयगिरि का पश्चिमीभाग है जिसे वर्तमान ट्रावनकोर पहाड़ के नाम से जाना जाता है।[6] 'वी.सी. सरकार' का भी यही मत है।[7] चन्दन की बहुलता के कारण इसे मलय पर्वत कहा

---

1. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास, मो.ला.ब.दा. वाराणसी, 1972, पृ. 151, टिप्पणी, 3।
2. वहीं, षष्ठोच्छ्वास, पृ. 182।
3. वही, पृ. 22।
4. उत्तररामचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 264।
5. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 4/46।
6. ला.वी.सी., हिस्टोरिकल ज्योग्राफी आफ एसियन्ट इण्डिया, पेरिस, 1968, पृ. 206।
7. सरकार डी.सी., ज्योग्राफी डिक्शनरी आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडविल इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1960, पृ. 71।

जाता है। इसे दक्षिणभारत का पर्वत कहा जाता है। 'दण्डी' का जन्मस्थान दक्षिण में ही था। 'महाभारत' के अनुसार पाण्ड्य एवं चोल देश के राजा मलय तथा दुर्दर पर्वत से चन्दन लेकर युधिष्ठिर को भेंट देने आये थे।[1] 'सीता' माँ की खोज में जाने वाले वानरों ने भी इस पर्वत को पार किया था। 'विष्णुपुराण' में इसका वर्णन कुलपर्वत के अन्तर्गत किया है।[2] कुल पर्वतों के अन्तर्गत महेन्द्र, मलय, सुह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष, विंध्य और पारिमात्रपर्वत आते हैं। इन सातपर्वतों का संकेत 'दण्डी' ने भी किया है।[3] यह कुलपर्वतमालाएं महेन्द्रगिरि के पूर्व में 'उड़ीसा' से लेकर 'मदुरई' तक फैली हैं।[4] महेन्द्रगिरि के समीप उदयगिरि जो कटक के दक्षिण में स्थित है, वहीं एक काल्पनिक उगते हुए सुरज नामक पहाड़ है।[5] कावेरी नदी के दक्षिण तट पर स्थित 'मलयपर्वत' जो पश्चिमी घाट पर स्थित दोदावेटा, नीलगिरि, अन्नामलाई, पालनी तथा मालाबार की पहाड़ी से जुड़ा हुआ है।[6] 'मलयपर्वत' का उत्तरी भाग 'अस्तगिरि' कहलाता है। जो 'सुह्यपर्वत' या पश्चिमाद्रि तक फैला हुआ है।[7] जिसे आज पश्चिमीघाट के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र को 'कावेरीनदी' 'मलयपर्वत' से अलग करती है। 'अवन्तिसुन्दरी' के अनुसार सुक्तिमानपर्वत का विस्तार छत्तीसगढ़ से लेकर मध्यप्रदेश के रायगढ़ जिले तथा बिहार के संथाल परगना तक है।

विन्ध्यपर्वत –

भारतवर्ष के पर्वतों में 'विन्ध्यपर्वत' की गणना की गई है। यह पर्वत श्रेणी पश्चिम में मध्यप्रदेश के धार जिले से प्रारम्भ होकर दक्षिण–पूर्व में बिहार तक चली गयी है। पश्चिमी छोर पर उसका गोमानपुर शिखर स्थित है, जो सागर की सतह से 554 मीटर ऊँचा है।[8] पश्चिमीभाग में इस श्रेणी के चाप का उत्ताल पार्श्व नर्मदा नदी की ओर रहता है। इसे मध्य भारत का पर्वत कहा जाता है। पौराणिक परम्पराओं के अनुसार पर्वत ही नदियों के मुख्य स्रोत थे। विन्ध्य क्षेत्र नर्मदा नाम से जाना जाता है जो

1. महाभारत की अनुक्रमणिका, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. 248।
2. विष्णुपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 2/3/3 – महेन्द्रो मलयः सुह्यः शुक्तिमानृक्ष पर्वतः। विंध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वतः।।
3. गुप्ता धमेन्द्रकुमार, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन द टाइम आफ दण्डिन, मे.च.ल.दा., दिल्ली, 1972, पृ. 63।
4. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 177, 220।
5. वही, पृ. 78, 79।
6. वही, 23, 74, 194।
7. वही, 78, 83, 109।
8. गौड़ कृपाशंकर, भारत की भौगोलिक समीक्षा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1971–72, पृ. 23।

पश्चिम में 'भभुआ' जिले से लेकर पूर्व में मिर्जापुर जिले तक फैला हुआ है। जिसका प्राचीन नाम विन्ध्यांचल है।[1] परिमात्रा विन्ध्य क्षेत्र का प्रमुख भाग माना जाता था, जो पश्चिम में बेतवानदी से लेकर उत्तर में अरावली क्षेत्र तक फैला हुआ है।[2] यह भाग मालवापठार का दक्षिणी तथा पश्चिमीसीमा कहलाता है। 'विन्ध्यपर्वत' का उल्लेख 'श्रीमद्भागवतपुराण' में भी आया है।[3] इसी पर्वत पर अघमर्षणतीर्थ स्थित है, जहाँ दक्ष ने तपस्या की थी।[4] 'डा. जवाहरलाल शर्मा' के अनुसार यह मिर्जापुर के निकट है। इसी के शिखर पर विन्ध्यवासिनी का प्रसिद्ध मन्दिर स्थित है। यह मध्य भारत का एक प्रसिद्ध पर्वत है।[5]

हिमालय –

'महाकविदण्डी' को पुराणों तथा अन्य व्यक्तिगत सुचनाओं के आधार पर भारत में स्थित पर्वतों के विस्तार तथा प्रसिद्ध चोटियों के विषय में विस्तृत ज्ञान था। दण्डी ने हिमालय, हेमकूट, निषधा, नील, स्वेत तथा श्रृङ्गपर्वत के आधार भारतीय सीमाओं का अङ्कन किया है।[6] इन्ही तथ्यों के आधार पर दण्डी ने निश्चित किया कि हिमावत जो हिमांचल और हिमशैल कहलाता था वह प्रसिद्ध हिमालय की उत्तरीसीमा है।[7] हिमालयपर्वत भारत के उत्तरीभाग में एक चाप की आकृति में फैला हुआ है, यह पूरब–पश्चिम में फैली संसार की सबसे बड़ी पर्वतमाला है। जिसकी लम्बाई 2500 किलोमीटर है।[8] 'दशकुमारचरित' में हिमालय के लिए हिमवान शब्द का प्रयोग आया है।[9] इसे पर्वतराज तथा नगाधिराज कहा गया है। हिमालय की तीन पर्वत श्रेणियाँ– वृहत–हिमालय, लघु–हिमालय और बाह्य–हिमालय हैं। इन्हें क्रमशः हिमाद्रि, हिमांचल और शिवालिक कह सकते हैं।[10] हिमाद्रि हिमालय का उत्तरीभाग है अतः इसे उत्तरी–

---

1. दशकुमारचरितम्, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 289, 442।
2. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. वाराणसी, 1954, पृ. 82।
3. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 5/19/16।
4. वहीं, 6/4/20।
5. शर्मा जवाहरलाल, श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. 276।
6. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. वाराणसी, 1954, पृ. 124, 158, 159, 210।
7. वहीं, पृ. 81, 78, 84, 194।
8. गौड़ कृपाशंकर, भारत की भौगोलिक समीक्षा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1971–72, पृ. 8।
9. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 118।
10. गौड़ कृपाशंकर, भारत की भौगोलिक समीक्षा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1971–72, पृ. 8।

माला कहा जाता है। इसी उत्तरी–माला के अन्तर्गत कैलासपर्वत आता है जिसका उल्लेख 'दण्डी' करते हैं[1] 'धर्मेन्द्रकुमार गुप्त' का मानना है कि कैलासपर्वत का ही नाम हिमालय है जो मनसाझील का उत्तरी क्षेत्र है। एतद् एक अवधारणा के अनुसार बन्दरपूछ (हेमकूट) की पहाड़ियों तथा 'कुमायूँ' और 'गढ़' की पहाड़ि 'कैलाशपर्वत' के विशाल क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं।[2] इस प्रकार हिमालय का विशाल क्षेत्र काश्मीर से लेकर असम तक फैला है। इसके अन्य पर्वत शृंखलाए मेरू, निषधा, नील, गंधमादन तथा माल्यवान आदि का भी नाम आता है। गढ़ के रूद्र–हिमालय के निकट बदरीकाश्रम है, जहाँ गङ्गा का उद्गम स्थल है। वास्तव में यह मेरुपर्वत की दो शाखाओं कनक–शैल तथा रत्न–शैल के नाम से जानी जाती है। माल्यवान पर्वत का दूसरा नाम दक्कन है, जो मेरूपर्वत के पूर्व में स्थित है।[3] मन्दर नामक पर्वत बदरीकाश्रम के उत्तर में तथा गंधमादवन के दक्षिण में स्थित है। आँजनपर्वत ही आँजनगिरि कहा जाता है। यह सिन्धुनदी के पश्चिम में बलूचिस्तान के आधुनिक सुलेमान क्षेत्र में स्थित है, जो अंजन के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रकार 'दण्डी' ने हिमालय नामक विशाल पर्वत मालाओं के अन्तर्गत आनेवाली अनेक पर्वत मालाओं का उल्लेख किया है। 'श्रीमद्भागवतपुराण' के अनुसार यह किम्पुरुष और भारतवर्ष की सीमा का विभाग करता है।[4] हिमालय के सम्मुख खड़ा मानव अपने शरीर की भौतिक स्वल्पता का अनुभव करता है। पाण्डवों को स्वर्गारोहण, कार्तिकेय का जन्म, शिवार्जुन का द्वन्द्व युद्ध प्रभृति अनेक साहित्यिक घटनाओं और कथानकों का मूल स्रोत हिमालय ही रहा है। ऋषि–मुनियों तथा साधक, योगियों के चिन्तन एवं अनुभूतियों के लिए प्रधान और उर्वर क्षेत्र हिमालय ही परिलक्षित होता है। 'कालिदास' ने हिमालय को देवताओं की आत्मा कहा है।[5] 'महाभारत' में वर्णन आया है कि इस हिमवान शिखर पर महेश्वर, उमा के साथ नित्य निवास करते हैं।[6]

नदी –

भारत के प्राकृतिक विभाजन में पर्वतों के साथ–साथ नदियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय संस्कृति में नदियों का स्थान धार्मिक, राजनैतिक, व्यापारिक तथा

---

1. दशकुमारचरितम्, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 72, 113, 116, 119, 120, अवन्तिसुन्दरी, पृ. 4।
2. गुप्त धर्मेन्द्रकुमार, सोसायटी एण्ड कल्चर इन द टाइम आफ दण्डिन, मे.ल.प. नई दिल्ली, 1972, पृ. 62।
3. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. वाराणसी, 1954, पृ. 210।
4. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 5/16/9।
5. कुमारसम्भवम्, क.दा.अ., वाराणसी, 1997, 1/1।
6. महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, उद्योग पर्व, 111/5।

भौगोलिक आदि दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। नदियों के जलसिञ्चन से यह भारत भूमि आदिकाल से शस्यश्यामला, सुषमासम्पन्ना एवं समृद्धशालिनी रही है। भारतीय नदियों में गङ्गा का स्थान प्रधानतम् माना जाता है। 'महाभारत' के अनुसार गङ्गा प्राचीन काल में हिमालय के स्वर्णशिखर से निकल कर सात धाराओं में विभक्त होती हुई समुद्र में जा मिली है। सातों के नाम हैं– गङ्गा, यमुना, सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती और गण्डकी।[1] भारत में इन सप्त धाराओं को धार्मिक भावना से जोड़ दिया गया कि इन धाराओं में स्नान करने पर मनुष्य के सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। यह गङ्गा देवलोक में अलकनन्दा, पितृलोक में वैतरणी और मृत्यलोक में माँ कही गयी।[2] वैदिक काल में भी नदियों के प्रति हमारी धार्मिक भावना रही है। तत्कालीन नदियों में गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परूष्णी, असिक्नी, मरूद्वृद्धा, वितस्ता, आर्जिकीया और सुषोना आदि नदियों की स्तुति की गयी है।[3] दण्डिकालीन समाज में नदियों का विशेष महत्त्व था। लोग अपना निवास नदियों के तट पर ही बनाते थे। आचार्यदण्डी अनेक तीर्थों का भी वर्णन किये हैं। भौगोलिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक जीवन के प्रसिद्ध स्थलों का सङ्केत 'दण्डी' की कृतियों में प्राप्त होता है। भारत एक कृषिप्रधान देश है अतः यहाँ नदियों का और महत्त्व बढ़ जाता है। दण्डी की कृतियों में निम्नलिखित नदियों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिनका वर्णन क्रमशः किया जा रहा है–

कावेरी –

दक्षिण भारतीय नदियों में 'कावेरी' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका उल्लेख 'महर्षि वाल्मीकि' ने 'रामायण' में किया है।[4] महाकवि 'कालिदास' ने 'रघु–दिग्विजय' के प्रसंग में इस नदी का उल्लेख बड़ा ही आदर के साथ किया है।[5] कावेरीनदी का उद्‌गम एक निर्झर है, जो पश्चिमीघाट की श्रृंखला ब्रह्मगिरि से सम्बन्धित है और इसे चन्द्रतीर्थ भी कहते हैं, जो प्राचीन कुर्ग रियासत में है। यह नदी ब्रह्म (पश्चिमी घाट) पर्वत से पूर्व की ओर कुछ दूर बहकर वह पुनः दक्षिणाभिमुख होकर पूर्व की ओर बहती हुई इस प्रकार 28000 वर्ग मील क्षेत्र का वेसिन बनाती हुई लगभग 475 मील लम्बा मार्ग पार कर पूर्वसागर (बंगाल की खाड़ी) में गिरती है। इसकी सहायक नदियों में भवानी, नागिल तथा अमरावती मुख्य हैं।

---

1. पाठक डा. सर्वानन्द, विष्णुपुराण का भारत, चौ.सं.सी.आ., वाराणसी, 1967, पृ. 35।
2. महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, वनपर्व, 85/88–99।
3. ऋग्वेद, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1991, 10–75–5।
4. रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2064, किष्किंधाकाण्ड, 41/15।
5. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970 4/44।

'दण्डी' ने कावेरीनदी का उल्लेख 'दशकुमारचरित' में किया है।[1] 'वामदेव' का शिष्य तीर्थाटन करते हुए कावेरीनदी के तट पर गया था।[2] कन्या की खोज में 'शक्तिकुमार' भी कावेरीनदी के दक्षिणभाग के एक नगर में गया था।[3] 'अवन्तिसुन्दरी' के आधार पर सम्भवतः इसे श्रीनदी कहा जाता था।[4] इसके किनारे पर श्रीरङ्गम नामक शहर विख्यात था। सभी नदियों की भांति यह नासिक की सह्य पहाड़ी से निकलती है।[5] "'वामनपुराण' के अनुसार भी यह सह्यपर्वत से निकलती है। यह वर्तमान कावेरी ही है जो पश्चिमी घाट से निकलकर दक्षिण-पूर्व दिशा में मैसूर से प्रवाहित होती हुई बंगाल की खाड़ी में गिर जाती है।"[6]

गङ्गा –

दण्डी की रचनाओं में गङ्गा नदी का कथा–प्रसंग में अनेकों वार उल्लेख आया है। इस पवित्र पुण्यतोया नदी का भारतीयनदियों में प्रमुख स्थान है। इसका उल्लेख ऋग्वेद[7], रामायण[8], महाभारत[9] आदि ग्रन्थों में आया है। 'कालिदास' जी अपने सभी रचनाओं में इसकी पवित्रता का वर्णन करते हैं।[10] दण्डी भी इनकी पवित्रता का भाव 'दशकुमारचरित' में देते हैं।[11] प्रयाग, वाराणसी, पाटलीपुत्र आदि पवित्रनगर इसी के तट पर बसे हुए हैं। 'अवन्तिसुन्दरी' में गङ्गा के उद्गमस्थल की ओर भी 'दण्डी' ने सङ्केत किये है कि बर्फ से पिघले हुए जल को यह धारण करती है।[12] वस्तुतः यह हिमालय के गङ्गोत्री नामक स्थान से निकलकर हरिद्वार, बुलन्दशहर, इलाहाबाद, वाराणसी, गाजीपुर, पटना आदि होते हुए बंगाल की खाड़ी में मिल जाती है।

---

1. द्विवेदी डा. कैलाशनाथ, कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्यभिज्ञान, साहित्य निकेतन, कानपुर, 1961, पृ. 114।
2. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 35।
3. वही, षष्ठोच्छ्वास उत्तरपीठिका, पृ. 347।
4. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. 1954, पृ. 195।
5. वही, पृ. 83, 136, 180।
6. शर्मा जवाहरलाल, श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. 279।
7. ऋग्वेद, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1991, 10/75/5।
8. रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2064, 40/20।
9. महाभारत; गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, आदिपर्व, 170/22।
10. रघुवंश, 8/95, कुमारसम्भवम्, 7/15, विक्रमोर्वशीयम्, 1/9, मेघदूत पूर्व, 54।
11. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 126।
12. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 81।

गोदावरी –

गोदावरी का उल्लेख भारतवर्ष की पवित्र नदियों के रूप में किया जाता है।[1] इसका उद्गम 'सह्यपर्वत' है। पुराणों में इसे दक्षिणपथ की विशाल नदी बताया गया है। यह नासिक से बीस मील दूर त्र्यम्बक नामक ग्राम के निकट से निकलती है।[2] इसका उल्लेख 'दण्डी' ने भी 'अवन्तिसुन्दरी' में अत्यन्त आदर के साथ किया है।[3] इसका उल्लेख 'रामायण' में भी प्राप्त होता है।[4] इसे दक्षिणभारत की गङ्गा समझा जाता है।

यमुना –

कवि 'दण्डी' यमुना नदी का उल्लेख 'अवन्तिसुन्दरी' में किये हैं।[5] यह 'मथुरा' के निकट बहने वाली भारत की एक प्रसिद्ध नदी है।[6] इसी का नाम 'कालिन्दी' भी है।[7] यमुना का उद्गम गङ्गा के उद्गम हिमालय में (गंगोत्री) के ही समीप 13000 फीट की ऊँचाई पर यमुनोत्री नामक हिमगुहा से है जो बन्दरपुँछ श्रेणी के पश्चिमीभाग में स्थित है।[8]

वेत्रवती –

कविदण्डी ने वेत्रवती नदी का उल्लेख 'अवन्तिसुन्दरी' में किया है।[9] इसका उद्गम–स्थान मालवा–पठार में भोपाल के समीप दक्षिण–पश्चिम की ओर कुछ मील दूरी पर है। यहाँ से यह विदिशा (भेलसा), साँची, झाँसी तथा ओरछा के समीप से लगभग 460 मील बहती हुई हमीरपुर के समीप यमुनानदी में गिरती है। विन्ध्य–श्रेणियों से अपने उपरीभाग के आगे ग्रेनेटिक चट्टानी प्रदेश में नीचे उतरती है।[10] महाकवि 'कालिदास' ने मेघदूत में इस नदी का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार यह दशार्ण राज्य से होकर बहती थी तथा जिसकी विख्यात राजधानी विदिशा थी।

1. श्रीमद्भागवतपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 5/19/18।
2. शर्मा डॉ. जवाहरलाल, श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. 280।
3. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 83।
4. रामायण, किष्किंधाकाण्ड, 41/9।
5. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. 1954, पृ. 81।
6. श्रीमद्भागवतपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 4/8/42।
7. वहीं, 4/8/43।
8. कृष्णन डा. एम.एस., ज्योलोजी ऑफ इण्डिया एण्ड वर्मा, मद्रास, 1956, पृ. 28।
9. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. 1954, पृ. 81।
10. द्विवेदी डा. कैलाशनाथ, कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्यभिज्ञान, साहित्य निकेतन, कानपुर, 1961, पृ. 106।

शिप्रा –

भारत की प्रसिद्ध पवित्र पौराणिक नदियों में शिप्रानदी का प्रमुख स्थान है। महाकवि 'कालिदास' ने 'मेघदूत' में इसका उल्लेख किया है।[1] जिनके अनुसार यह उस समय अवन्तिराज्य की प्रधाननदी थी तथा प्राचीनकाल में सम्पन्न विशाला (उज्जयिनी) नगरी इसी के दाहिने तट पर वसी हुई थी। वर्तमान में भी उज्जैन 'शिप्रा' पर उसी स्थिति को ग्रहण किये हुए है। 'कविदण्डी' उज्जयिनी का उल्लेख अनेकत्र किये हैं,[2] जो शिप्रानदी के तट पर ही स्थित था। यहाँ महाकालेश्वर का अति प्रसिद्ध मन्दिर है।

सरयू –

'दण्डी' ने रामतीर्थ का उल्लेख 'दशकुमारचरित' में किया है।[3] यहाँ रामतीर्थ का तात्पर्य 'सरयू नदी' से है, क्योंकि राम अयोध्या के राजा थे। अयोध्या आधुनिक फैजाबाद जिले के अन्तर्गत का क्षेत्र है। अयोध्या में सरयू नदी बहती है। रामायण में इसका उल्लेख किया गया है।[4] रघुवंश में इसका उल्लेख अनेकत्र आया है।[5] यह भी हिमालय से ही निकली है।

झील –

दण्डिकालीन कुछ महत्त्वपूर्ण झीलों का भी उल्लेख उनकी कृतियों में मिलता है। जिसमें मानसरोवर सबसे पवित्रझील के रूप में वर्णित है। यह कैलाश- पर्वत के दक्षिण में लगभग 25 किमी. की दूरी पर स्थित है।[6] इसके अतिरिक्त माण्डोदक नामक सरोवर का वर्णन है, जो हेमवत्स के नाम से भी जाना जाता है। यह मंदाकिनीनदी के समीप स्थित है। पुराणकाल में भी झीलों का वर्णन बहुत मिलता है। 'महाभारत' में गङ्गोत्री के निकट 'रूद्र–हिमालय' में स्थित 'बिन्दुसरस' नामक झील का वर्णन मिलता है।[7] 'रामायण' में भी झीलों का वर्णन आया है।[8] इसके अनुसार झील ही गङ्गा को सदा प्रवाहित रखती है।

---

1. मेघदूत, कृ.दा.अ., वाराणसी, 2002, पूर्व, 33।
2. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास पूर्वपीठिका, चौ. अ. भा. प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 67, 72!
3. वहीं, प्रथमोच्छ्वास पूर्वपीठिका, पृ. 30।
4. रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2064, किष्किंधाकाण्ड, 4/20।
5. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 8/95, 9/20, 13/60–63, 14/3, 30, 16/35, 36, 58।
6. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. वाराणसी, 1954, पृ. 82।
7. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, सभापर्व, 3/2–3।
8. रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, बालकाण्ड, 43/11–4।

वन –

वन प्रकृति की पावन सुषमा के परमभण्डार है। भारतीय ज्ञानपरम्परा में संत, महर्षियों, तपस्वियों, विचारकों, महाकवियों आदि को इन वनों ने अपने शान्तिमय मनोहर वातावरण से निरन्तर आकर्षित किया है। इन नयनाभिराम प्राकृतिक वनों का वर्णन काव्यों में प्रमुख रूप से पाया जाता है। 'महर्षि वामदेव' जंगल के ही रम्य वातावरण में अपने शिष्यों को ज्ञान–दान देते है।[1] महाकवि ने पशु–पक्षियों से युक्त विविध वनस्पति वाले जिन वनों का उल्लेख अपनी कृतियों में किया है, वह बड़ा ही मनोरम लगता है।[2]

वनों के रूप में दण्डी विन्ध्याटवी का वर्णन अनेकत्र किये हैं।[3] यह वन विन्ध्यांचल पर्वत की श्रेणियों में पूर्व से पश्चिम तक विस्तृत रूप से फैले हुए हैं। महाकवि कालिदास ने भी अपनी कृतियों में विन्ध्यवनों का वर्णन किया है। 'रघुवंश' में राजकुमार अज इन्दुमती स्वयंवर के लिए विदर्भ जाते समय विन्ध्यांचल वन के मार्ग से होते हुए नर्मदा के तट पर उस वनैले मतवाले हाथी के आक्रमण को रोकने के लिए वाध्य हुए थे, जिसने सैन्यपड़ाव में भगदड़ मचा दी थी,[4] और भी 'रघुवंश' में अनेक स्थलों पर इस वन का उल्लेख किया गया है।[5] 'ऋतुसंहार' में भी इस वन का कवि ने उल्लेख किया है।[6] 'महाकवि बाण' ने भी विन्ध्याटवी की सघनता, भयंकरता को 'कादम्बरी' में व्यक्त किया है।[7] 'दण्डी' ने 'अवन्तिसुन्दरी' में 'कलिवन' का उल्लेख किया है।[8] वस्तुतः यह उड़ीसा प्रान्त के गोदावरी क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। वनों में अनेक वृक्ष आदि होते थे। आम, पीपल एवं कटिली झाड़ियाँ जंगलों में बहुतायत मात्रा में थे। अनेक पुष्प भी जंगलों में हुआ करते थे। काव्यादर्श में पारिजात पुष्प का वर्णन आया है।[9]

अतः स्पष्ट है कि दण्डिकालीन वनों में अनेक वृक्षों के साथ पुष्पादि का भी वर्णन मिलता है।

❑❑❑

---

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 22।
2. वही, पृ. 26।
3. वही, पृ. 42, 43, 411।
4. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 5/41, 42।
5. वही, 16/31, 32।
6. ऋतुसंहार, चौ.सु.भा.प्र., वाराणसी, 1998, 2/8।
7. कादम्बरी, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1993, पृ0 88–98।
8. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि. वाराणसी, 1954, पृ. 83।
9. काव्यादर्श, चौ.वि.भ., वाराणसी, 2/47।

अध्याय-२

सामाजिक-जीवन

महाकवि दण्डी उस युग के रत्नमणि हैं जिस युग में समाज वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, पुरुषार्थ, संस्कार आदि से संयमित होकर जीवन पथ को सुव्यवस्थित करता था। समाज का प्रत्येक कार्य इनके निकष पर अवलम्बित होता था। वस्तुतः वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ और संस्कार समाज के आधारभूत तत्त्व हैं जिनसे जीवन की स्वच्छ सुदीर्घ परम्परा चलती है। स्त्री-पुरुष इन्हीं तत्त्वों से अनुशासित होकर स्नेहमय दाम्पत्य का बोध करते हैं। वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ और संस्कार समाज को त्याग की शिक्षा देते हैं। जहाँ त्याग है वहा आनन्द। जहाँ भोग है वहाँ दुःख। इसी संस्कृति से अनुप्राणित हो दण्डी ने अपने कृतियों में सामाजिक जीवन को प्रस्तुत किया है।

वर्ण-व्यवस्था –

प्राचीन भारतीय समाज 'वर्ण-व्यवस्था' पर आधारित था। भारतीय संस्कृति में वर्ण-व्यवस्था का जो स्वरूप उपलब्ध होता है उसके समान व्यवस्था अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। इस देश के मनीषियों ने मानव समाज को चार वर्णों में विभाजित किये हैं। यह चातुर्वर्णीय विभाजन हमें वैदिक युग से ही प्राप्त होती है। 'ऋग्वेद' में उल्लेख है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुए।''[1] इस प्रकार ब्रह्मा से ही इन चार वर्णों की उत्पत्ति हुई। 'महाभारत' के शान्तिपर्व[2], 'मनुस्मृति'[3], 'विष्णुपुराण'[4] तथा 'वायुपुराण'[5] में भी ब्रह्मा के विभिन्न अङ्गों से वर्णोत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भगवान श्रीकृष्ण गुण एवं कर्म के आधार पर वर्ण विभाजन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।[6] ब्राह्मणों का कार्य पढ़ना, धार्मिक शिक्षा देना एवं कर्मकाण्ड कराना आदि होता था। वे समाज के पथ–प्रदर्शक होते थे। उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से होने के कारण उसी के समरूप वे यजन–याजन तथा शिक्षण कार्य में संलग्न रहते थे। भुजा से उत्पन्न होने

1. ऋग्वेद, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1991, दशम मण्डल, 90/12।
2. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1956, शान्तिपर्व, 122/4–5।
3. मनुस्मृति, सं. सं., बरेली, उत्तरप्रदेश, 2000, श्लो. 31/1।
4. विष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2063, 6/6/1।
5. वायुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2065, 113/9
6. श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2004, 13/4 – चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः। तस्या कर्तारमपि मा विद्धयकतीरमव्ययम्।।

के कारण क्षत्रिय वर्ग उसके समरूप जन–सामान्य तथा राज्य की रक्षा के दायित्व का निर्वाह करता था। उरूभाग से उत्पन्न होने के कारण वैश्य वर्ग इसके समरूप सम्पूर्ण समाज को अपने अर्थशक्ति से वहन करता था। कृषि, पशुपालन, व्यापार, उद्योग ही इनके मुख्य कार्य होते थे। ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न होने के कारण शूद्र वर्ग उसके समरूप सम्पूर्ण समाज की सेवा करते थे। जिस प्रकार शरीर का सम्पूर्ण भार पैर पर टिका होता है। उसी प्रकार समाज का सम्पूर्ण भार शूद्रों पर अवलम्बित होता था। समाज इन्हीं के माध्यम से अपना सभी कार्य करता था। वैदिकसमाज में शूद्रों का स्थान सेवक रूप में होने से उनका स्थान स्वतः निश्चित हो जाता है।

इस प्रकार प्राचीनभारत चारों वर्ण के आवश्यक जीवनप्रणाली में जीवन जीते हुए एकता के सूत्र में बंधा हुआ था। सभी वर्ग का समाज में अपना स्थान होता था। 'दण्डिकालीन' समाज में भी सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण ढांचा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पर आधारित था।[1] सभी वर्ग वैदिक वर्ण–व्यवस्था पर ही कार्य करते थे। ब्राह्मण समाज के उपदेशक होते थे। वे जङ्गल में आश्रम बनाकर निवास करते थे। क्षत्रिय देश के बाह्य और आभ्यन्तर व्यवस्था का अनुशासन करते हुए शान्ति की स्थापना करते थे। 'दण्डी', शुक्राचार्य, अंगिरस, पराशर आदि के निर्दृष्ट नीतियों का राजा द्वारा पालन करने की प्रेरणा देते हैं।[2] वैश्य वर्ग व्यापार, कृषि और पशुपालन करता था। वे व्यापार के निमित्त जलयान से देश–देशान्तर भ्रमण करते थे। शूद्र सभी लोंगो की सेवा करते थे। वे समाजसेवा से प्राप्त अर्थ से ही अपनी आजीविका चलाते थे। सर्वत्र चारों वर्णों में सद्भाव था, जिनका वर्णन क्रमशः प्रस्तुत है।

ब्राह्मण –

प्राचीन काल से ही ब्राह्मणों का स्थान समाज में श्रेष्ठ रहा है। "गुप्तकालीन समाज में भी पारंपरिक चार वर्ण विद्यमान थे जिसमें ब्राह्मण वर्ण का स्थान सर्वोच्च होता था। इस युग में उनके छः मुख्य कर्त्तव्य थे – अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान देना, दानग्रहण करना।"[3] दण्डिकालीन समाज में भी ब्राह्मणों का स्थान सम्मानपूर्ण था। उन्हें महीसुर[4], भुसुर[5] और भूदेव[6] आदि नामों से पुकारा जाता था।

---

1. गुप्ता धर्मेन्द्र कुमार, सोसायटी एण्ड कल्चर इन द टाइम आफ दण्डिन्, मे.च.ल.दा., देहली, 1972, पृ. 200।
2. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 425।
3. दुबे एच.एन. भारतीय संस्कृति एवं कला, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1999, पृ. 239।
4. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 42।
5. वही, पृ. 44।
6. वही, तृतीयोच्छवास, पृ. 54।

दण्डी ने स्ववंश वर्णन में भी तत्कालीन ब्राह्मणजीवन की ओर सङ्केत किया है।[1] 'उन्हें पृथ्वी पर देवता के रूप में देखा जाता था।'[2] ब्राह्मण लोग जनेऊ धारण करते थे। 'मातंग जब राजवाहन से मिलता है तो उसके कन्धे पर जनेऊ था',[3] तत्कालीन समाज में ब्राह्मण की हत्या महापाप मानी जाती थी। मातंग जब अपने साथियों द्वारा अन्य ब्राह्मण को पीटे जाते हुए देखता है तो कहता है ब्राह्मण की हत्या करना पाप है।[4] 'कौटिल्य भी ब्राह्मणों को अवध्य कहा है लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि ब्राह्मण जिस प्रकार का अपराध करे उसके अनुसार उसके माथे पर अपराध सूचक चिह्न अङ्कित किया जाना चाहिए। इससे लोग उसे अपराधी समझकर उसका यथोचित बहिष्कार करेगें।'[5] तत्कालीन ब्राह्मण जंगल में आश्रम बनाकर शिष्यों के साथ निवास करते थे। 'महर्षि वामदेव' जंगल में ही आश्रम बनाकर रहते हैं जिन्हें त्रिकालज्ञ कहा जाता है।[6] महात्मा मरीचि भी अलौकिक ज्ञान सम्पन्न थे।[7] ब्राह्मण उपदेशक होते थे फलस्वरूप दान ग्रहण करते थे।[8] काव्यादर्श में ब्राह्मण की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है जब ब्राह्मण-प्रिय राजा शासनारूढ़ होता है तो राज्य समृद्धशाली बनता है।[9] राजा को ब्राह्मण से सद्बुद्धि मिलती है।

'राजवाहन' की खोज में 'सोमदत्त' एक ब्राह्मण से मिलता है जो अपने परिवार का पालन-पोषण भिक्षाटन से करता था।[10] इससे पता चलता हैं कि ब्राह्मण लोग विद्या दान से भिन्न कार्य भी करते रहे होगें। "ह्वेनसांग के विवरण से चालुक्य कालीन अभिलेखों तथा कथा कोष प्रकरण आदि से पता चलता है कि मध्यदेश, दक्कन तथा प्राच्य आदि प्रदेशों में अधिकांश ब्राह्मण स्वयं अपने हाथ से खेती करने लगे थे।[11] 'मृच्छकटिक' में भी आया है कि चारुदत्त ब्राह्मण है लेकिन वैश्य कार्य में संलग्न है।[12] तत्कालीन ब्राह्मण जीवन पर यथार्थ वर्णन उस स्थल से मिलता है जब मातंग

---

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 9।
2. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 423।
3. वही, द्वितीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 42।
4. वही, पृ. 43 – ननुपापाः, न हन्तव्यो ब्राह्मणः।
5. अर्थशास्त्र, भा.वि.प्र., वाराणसी, 1990, 8/4।
6. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 21।
7. वही, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 147।
8. वही, द्वितीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 46।
9. काव्यादर्श, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1984, कारिका 1/53।
10. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 53।
11. दुबे, एच.एन., भारतीय संस्कृति एवं कला, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृ. 240।
12. मृच्छकटिकम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2001, श्लो. 6/1।

ब्राह्मण अपने कुटिम्बी ब्राह्मणों के विषय में बताता है कि इस विन्ध्याटवी में अनेक कुत्सित विप्रों का आवास है जिन्होंने वेदादि विद्याभ्यास को त्याग कर तथा ब्राह्मणोचित धर्माचार एवं सत्य–शौच आदि कुलाचारों को छोड़ पापाचार में प्रविष्ट होकर म्लेच्छों का अन्न खाकर जीवन–यापन करना ही अपना प्रधान कार्य बना लिया है।[1] 'दण्डिकालीन' समाज में ब्राह्मणों की स्थिति वैविध्यपूर्ण थी। वे ब्रह्मज्ञानी से लेकर अधम प्रकृति के जीवन जीने के अभ्यस्त थे।

'दण्डी' पल्लव राज्याश्रित कवि थे। अतः तत्कालीन ब्राह्मणों की स्थिति पर विचार करते हुए बलरामश्रीवास्तव ने लिखा है "सामान्य रूप से ब्राह्मण विद्या दानवृत्ति पर ही अपनी जीविका चलाते थे। विभिन्न मंदिरों, घट्टिकाओं में वे विद्या दान करते थे और प्राप्त दान के आधार पर अपना और अपने शिष्यों का भरण–पोषण करते थे।"[2] श्रीवास्तव जी का यह कथन महर्षि 'वामदेव' के सन्दर्भ से अक्षरसमूह प्रमाणित होता है।

क्षत्रिय –

वर्णव्यवस्था के स्थापित स्वरूप में क्षत्रिय का स्थान ब्राह्मण के उपरान्त आता है। 'ऋग्वेद' में क्षत्र एवं क्षत्रिय शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।[3] क्षत्र शब्द का प्रयोग शूरता या वीरता के अर्थ में तथा क्षत्रिय शब्द का प्रयोग राजा के रूप में हुआ है। महाकवि 'कालिदास' क्षत्रिय शब्द की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या किये हैं– "क्षतात् किल त्रायते"[4] अर्थात् जो क्षत से (दुःख से, आक्रमण से) त्राण दिलाए वही क्षत्रिय है। इस प्रकार क्षत्रिय वर्ण बाह्य एवं आभ्यन्तर सभी शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करने में सदैव तत्पर रहता था। इसीलिए क्षत्रिय को शस्त्रबल कहा जाता है।

दण्डिकालीन समाज में क्षत्रिय वर्ण का मुख्य कार्य जनता की सुरक्षा थी। वे बाह्य एवं आन्तरिक दोनों रूप में राज्य के रक्षक होते थे। 'मानसार' जब राजहंस के राज्य पर आक्रमण करता है तो 'राजहंस' को उसके मन्त्री अनेक प्रकार से समझाते हैं लेकिन वह अपने पराक्रम एवं पौरुष के बल पर युद्ध क्षेत्र में चल देता है।[5] उसमें

---

1. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 43 – "अस्याम् अटव्यां वेदादिविद्याभ्यासमपहाय निजकुलाचार दूरीकृत्य सत्यशौचादिधर्मव्रातं परिहृत्य किल्विषमन्विष्यन्तः पुलिन्दपुरोगमास्तदन्नमुपमञ्जाना बहवो ब्राह्मणब्रवा निवसन्ति।।"
2. श्रीवास्तव बलराम, दक्षिण भारत, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1992, पृ. 282।
3. ऋग्वेद, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1991, 2/62/7, 8/25/8, 16–18, 35, 8।
4. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 2/53।
5. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 14–15।

अदम्यसाहस एवं शौर्य था। वह अपने प्रजा की रक्षा अपने जान की बाजी लगाकर करना चाहता है। 'दण्डी' के अनुसार बन्धु या अबन्धु सबको समान रूप से दुष्कर्म के लिए दण्ड देना क्षात्र धर्म है।[1] इस प्रकार तत्कालीन समाज में अपराधी को दण्ड क्षत्रिय वर्ग ही देता था। यहाँ क्षत्रिय शब्द से तात्पर्य जो क्षत्र धारण करता है अर्थात् जो राजा हो वही क्षत्रिय है। राजा के कुल का जो हो वही क्षत्रिय है। "राजा का अपना आदेश लागू करना और चलाना विशेष कर्त्तव्य होता था। वह अपने परिवार तथा अनुचरों के परिवार की देख-भाल करता था। हम 'दण्डी' के 'उपहारवर्मा' की कहानी में पाते हैं कि वेश्याओं के अपने पारिवारिक व्यापार छोड़ने के प्रयास पर राजा द्वारा उनकी निन्दा की जाती थी।[2] 'स्कन्दगुप्त' के शासन काल के इंदौर से प्राप्त एक अभिलेख से पता चलता है कि इस काल के कुछ क्षत्रिय वैश्य कर्म करते थे। 'ह्वेनसांग' अपने यात्रा वृत्तान्त में क्षत्रियों की कर्त्तव्यनिष्ठा की प्रशंसा करते हुए उन्हें मूलराजन्यवर्ग घोषित किया है। उसके अनुसार वे पवित्र, सरल, निर्दोष, दयालु, परोपकारी तथा मितव्ययी होते थे।[3] 'अवन्तिसुन्दरी' में क्षत्रिय राजा की प्रशंसा एवं उसके कर्त्तव्य को व्याख्यायित किया गया है।[4] इस प्रकार तत्कालीन क्षत्रिय वर्ग राज्य का संचालन करने के साथ-साथ व्यापार आदि में भी संलग्न रहता था। युद्ध करना उनका शौक था। समाज में उनकी प्रतिष्ठा बलशाली के रूप में प्राप्त होती है।

वैश्य –

मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर का अधिकांश भार उरू भाग द्वारा ही वहन किया जाता है। 'ऋग्वेद' के पुरुषसूक्त में वैश्य वर्ण की उत्पत्ति विराट् पुरुष की जंघाओं से किये जाने का भी यही अभिप्राय परिलक्षित होता है। ऋग्वेद में विश् शब्द का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ विश् शब्द को सामान्य तथा समूह के अर्थ में प्रयोग किया गया है– "ता ई विशो न राजानां वृणानां वीभत्सो अप वृत्रादतिष्ठत।"[5] विश् के अन्तर्गत ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्णों के अतिरिक्त शेष जनसमुदाय का बोध होता है, जो विभिन्न कार्यों एवं व्यवसायों के द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। "समाज के आर्थिक पक्ष को

---

1. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी-2004, पृ. 273-74 – एष खलु क्षात्रधर्मो यद्बन्धुरबन्धुर्वा दुष्टः स निरपेक्षं निग्राह्य इति।
2. गुप्ता धर्मेन्द्र कुमार, सोसायटी एण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्डिन्, मे.च.ल.दा., देलही, 1972, पृ. 201।
3. दुबे एच.एन., भारतीय संस्कृति एवं कला, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1999, पृ. 244।
4. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 74।
5. ऋग्वेद, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1990, 10/124/8

सुदृढ़ बनाने का भार वैश्यवर्ग पर ही था। सम्पत्ति की निरन्तर अभिवृद्धि के साधन जुटाना और उसी का आयोजन करना वैश्य का कर्त्तव्य था।''[1] कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में वैश्य का स्वधर्म अध्ययन, यजन, कृषि, दान देना, पशुपालन और वाणिज्य आदि बताया है।[2] 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' में वैश्यकर्म का स्वाभाविक कर्म पशुपालन कृषि तथा वाणिज्य निश्चित किया गया है।[3] 'मनुस्मृति' में भी उपर्युक्त कर्मों को वैश्यों का प्रधान कर्त्तव्य कहा गया है।[4] 'ह्वेनसांग' ने वैश्यों के व्यापार–कर्म का विस्तृत विवरण दिया है। वे वस्तु विनिमय तथा धनार्जन के लिए सुदूर प्रदेशों तक व्यापारिकयात्रा किया करते थे। इस काल–खण्ड में कतिपय वैश्य राजवंशों का उद्‌भव उनकी सैनिक वृत्ति को इति करता है।'[5]

दण्डिकालीन समाज में वैश्य वर्ग व्यापार, कृषि, पशुपालन आदि से अपनी जीविका चलाता था। 'यवनद्वीप' में एक 'कालगुप्त' नामक धनिक वैश्य था जिसकी पुत्री सुवृत्ता से रत्नोद्‌भव विवाह करता है। वह देश–देशान्तर का भ्रमण किया और व्यापार में कुशल हो गया।[6] निम्बवती की कथा के अन्तर्गत मित्रगुप्त कहता है ''सौराष्ट्र प्रदेश में 'वलभी' नाम की एक पुरी है। इस पुरी में राजा कुबेर के समान धनवान जहाज के व्यापारियों का एक मुखिया रहता था। जिसकी एक रत्नवती नामक पुत्री थी। उसका विवाह मधुमती नगर से आए हुए एक बलभद्र नामक वैश्यपुत्र से किया गया।[7] खेटकपुर जब रत्नवती के साथ बलभद्र आता है तो वहाँ अन्य वणिक समुदाय के लोग निवास कर रहे थे।[8] वैश्यवर्ग का शासकों से अति निकटता रहती थी। 'दण्डी' ने सभी जगह इस वर्ग के लिए वणिक अथवा आर्य का सम्बोधन किया है।[9] रत्नोद्‌भव व्यापार के सिलसिले में कालयवन द्वीप गया था।[10] वणिक लोगों से बैल तथा गाड़ियाँ

1. गोयल डा. प्रीतिप्रभा, भारतीय संस्कृति, राजस्थान ग्रन्थागार, जोधपुर, 2000, पृ. 34।
2. अर्थशास्त्र, भा.वि.प्र., वाराणसी, 1990, 1/3।
3. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, गीताप्रेस गोरखपुर, 2004, 18/44 – कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
4. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, उ.प्र., 2000, श्लो. 8/410।
5. दुबे, एच.एन., भारतीय संस्कृति एवं कला, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1999, पृ. 246।
6. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्‌वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 30–31।
7. वही, षष्ठोच्छ्‌वास, उत्तरपीठिका, पृ. 358।
8. वही, पृ. 365।
9. वही, चतुर्थोच्छ्‌वास, पूर्वपीठिका, पृ. 68।
10. वही, पृ. 64।

खरीदा जाता था।[1] कृषि एवं पशुपालन ही वैश्यवर्ग की आजिविका थी। पल्लवकालीन समाज में वैश्य की कार्य प्रणाली को स्थापित करते हुए 'बलराम श्रीवास्तव' ने लिखा है "समाज का आर्थिक ढांचा पूरी तरह कृषकों पर आधारित था। भूमिधर कृषकों की बड़ी सामाजिक प्रतिष्ठा थी। भूमिहीन कृषकों, कारीगरों और व्यापारियों की अपेक्षा 'भूमिहारकृषक' समाज में विशेष महत्त्व रखते थे।"[2] 'अवन्तिसुन्दरी' कथा में भी वैश्य एवं उनके जीवन के विविध पक्षों का विवरण अनेकत्र मिलते हैं।

शूद्र –

चातुर्वर्णीय संस्कृति में सबसे निम्न लेकिन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान शूद्रों का है। 'पुरुषसूक्त' में शूद्र की उत्पत्ति विराट् पुरुष के पैर से बताई गई है। शरीर को निरन्तर गति देने के लिए जिस तरह पैर कार्य करता है उसी प्रकार समाज को गति देने का कार्य शूद्र वर्ग ही करता है। "शूद्र वर्ण अन्य तीनों वर्णों की सेवा–परिचर्या करके उन्हें स्वस्थ एवं सकुशल रखता है। समाज की सेवा का सम्पूर्ण भार शूद्रों पर ही था। अपने विभिन्न सेवा कार्यों के द्वारा शूद्र समाज के अन्य वर्गों को उनके गन्तव्य तक पहुँचाने में सहायता करते हैं।"[3]

शूद्रों के सम्बन्ध में 'मनुस्मृति' में कहा गया है "ये तीनों द्विज वर्णों की समुचित सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट कर देने से शूद्र दग्धपाप होकर मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग सुख प्राप्त करता है।[4] 'महाभारत' में आया है कि "जो शूद्र नित्य सत्यवादी तथा जितेन्द्रिय हो निरन्तर सदाचरण करता हो वह महान् तप का संचय करता है।[5] 'श्रीमद्भगवतगीता' में भी कहा गया है कि सब वर्णों की सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।[6] अतः शूद्रों की सेवा करना उनका स्वभाव है। वे अपने स्वभाव के अनुरूप ही समाज की सेवा करते हैं। 'डी.के. गुप्ता' का भी मानना है कि "समाज में शूद्रों की स्थिति सबसे हीन थी। वे द्विज जातियों से नीचे की श्रेणी में गिने जाते थे तथा वेदाध्ययन आदि नहीं कर सकते थे।"[7] दण्डिकालीन समाज में 'गुलामी–प्रथा' का उल्लेख मिलता है। 'रत्नवती' रास्ते में सामान ढोने तथा गृहकार्य करने के लिए एक दासी खरीदती

1. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी-2004, पृ. 68।
2. श्रीवास्तव, डॉ. बलराम, दक्षिण भारत, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1992, पृ. 202।
3. गोयल, डॉ. प्रीतिप्रभा, भारतीय संस्कृति, राजस्थान ग्रन्थागार, जोधपुर, 2000, पृ. 35।
4. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, 2000, 1/91
5. महाभारत, गीताप्रेस गोरखपुर, 1956, 13/141/57–59
6. श्रीमद्भागवत्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर, 2004, 18/44 – परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।
7. गुप्ता डी.के., सोसाइटी एण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्डिन्, मे.च.ल.दा., देलही, 1972, पृ. 206।

है जो उसके सम्पूर्ण गृहकार्य को करती थी।[1] 'बलभद्र' खेटकपुर में अपने थोड़े मूलधन से विशाल सम्पत्ति अर्जित कर लेता है फलस्वरूप बहुत से अपने यहाँ नौकरों को रख लेता है। 'रत्नवती' पहली नौकरानी को डांटती–फटकारती भी थी।''[2] जङ्गलों में कोल, भील, शबर आदि भी रहते थे, जो अपने समय में काफी सशक्त थे।[3] राजपरिवार की सेवा के लिए सवकों के अनेक वैविध्य रूपों का वर्णन कवि ने खूब मनोरञ्जक ढंग सें किया है।[4] जंगलवासी मातंग आदि के सम्बन्ध में 'डी.के. गुप्ता' लिखते हैं ''चाण्डाल जिन्हें मातंग, किरात, और अन्त्यज भी कहा गया है। मूलतः ये जनजातियों का प्रतिनिधित्व करते थे।[5] 'दण्डी' ने 'अवन्तिसुन्दरी' कथा में शूद्रों का स्थान समाज में 'निम्नस्तर' निर्धारित किया है।[6]

इसप्रकार 'दण्डिकालीन' समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चातुर्वर्णीय विभाजन मिलता है, यह विभाजन जन्म से ही तत्कालीन समाज में विद्यमान था। क्योंकि ब्राह्मण भी क्षत्रिय का कार्य करता था, वैश्य का कार्य करता था। वैश्य भी क्षत्रिय का कार्य कर सकता था शूद्र भी क्षत्रिय जैसे लड़ाकू होते थे, तथा वैश्यों का कार्य करने लगे थे।

आश्रम-व्यवस्था –

प्राचीनभारतीयसमाज की चतुराश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य–गृहस्थ–वानप्रस्थ और सन्यास की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं नैतिक विचारों को समाविष्ट किया गया था। 'ऋग्वेद' में आश्रम शब्द नहीं प्राप्त होता है लेकिन अनेक ऐसे शब्दों का तथा जीवन की अनेक ऐसी अवस्थाओं का वर्णन आया है जिनसे आश्रम–व्यवस्था की ओर संकेत मिलता है। यहाँ अल्प वयस्क एवं वयस्क दोनों को ब्रह्मचारी कह कर पुकारा गया है।[7] 'गृहस्थाश्रम' का भी संकेत प्रकारान्तर से अनेक स्थलों पर किया गया है[8] 'ऋग्वेद' के प्रसिद्ध अक्षसूक्त[9] में पारिवारिक जीवन की विविध झाँकिया प्रस्तुत की गयी हैं।

1. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 364।
2. वही, पृ. 364।
3. वही, पृ. 25।
4. वही, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 417।
5. गुप्ता डी.के., सोसाइटी एण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्डिन्, मे.च.ल.दा., देलही, 1972, पृ. 207।
6. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 70, 179।
7. ऋग्वेद, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1991, 10/109/5।
8. वही, 3/53/4, 5/3/2, 10/85/43, 10/85/36, 10/179/1–4।
9. वही, 10/34।

यहाँ मुनि[1] और यति[2] शब्द अनेक बार आए हैं जिनके आधार पर सन्यास और वानप्रस्थ की कल्पना की जा सकती है लेकिन 'पी0वी0 काणे' इसे अनुचित मानते हैं।[3] 'रामायण' तथा 'महाभारत' काल में भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम की जीवनचर्या दृष्टिगोचर होती है। 'रामायण' में भी चार आश्रमों का स्पष्ट संकेत मिलता है।[4] 'महाभारत' में चारों आश्रमों उनके कर्म, धर्म एवं पुरुषार्थ का सम्बन्ध आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण विवरण उपलब्ध होता है। 'शांतिपर्व' में 'भारद्वाजमुनि' के प्रश्न पूछने पर 'भृगुमुनि' अतिविस्तारपूर्वक आश्रम संरचना तथा विभिन्न धर्मों का उपदेश देते हैं।[5] 'विष्णुपुराण' में भी आश्रम–व्यवस्था पर बल देते हुए ब्रह्मचारी जीवन को स्पष्ट किया गया है।[6] इस प्रकार आश्रम–व्यवस्था बहुत प्राचीन समय से ही समाज में प्रचलित थी।

आश्रम–व्यवस्था जीवन की एक सीढ़ी है। मनुष्य सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर अपने जीवन को परिमार्जित कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। गृहस्थाश्रम में कर्त्तव्यों को पूराकर वह वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश पाता है। जहाँ वह शांत जङ्गल में बैठकर आत्म चिन्तन करता है। अनन्तर वह सन्यासाश्रम में पहुँचता है जहाँ सम्पूर्ण मानवीय दुर्बलता को छोड़कर वह एकाग्रावस्था को प्राप्त करता है और सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की कामना करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार सभी मनुष्यों का जीवन इनसे होकर ही चलता है। 'दण्डिकालीन' समाज में भी इस व्यवस्था का संकेत उनकी कृतियों से मिलता है। 'दण्डी' 'पुण्यवर्मा' के सन्दर्भ में लिखते हैं कि वह 'मनुस्मृति' के अनुसार चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के धर्मों का पालन प्रजा से करवाता था।[7] मानवजीवन को सफल बनाने वाला एवं प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य–आश्रम ही जीवन की आधारशिला है। उपनयन संस्कार के बाद विवाह संस्कार के पूर्व तक का जीवन ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत आता है। 'दण्डिकालीन' समाज में सभी कुमारों

---

1. ऋग्वेद, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1991, 7/56/8, 8/14/14, 10/136/4।
2. वही, 8/3/9, 8/6/18।
3. काणे पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992, प्रथम खण्ड, पृ. 269।
4. रामायण, गीताप्रेस गोरखपुर, 2007, 4/100/62, 2/106/22 – चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्।
5. महाभारत, सभापर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1956, 3/46/3 – आहुधर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुपिछसि।
6. विष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2063, 3/9/21।
7. दशुकमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 413 – मनुमार्गेण प्रणेता चातुर्वर्ण्यस्य पुण्यश्लोक पुण्यवर्मा आसीत्।

का उपनयन संस्कार आदि करके उन्हें शिक्षा–दीक्षा दी जाने लगी जिससे वे पारंगत शस्त्रधारी बन जाते हैं।[1] 'ब्रह्मचर्य आश्रम' के सम्बन्ध में 'मनुस्मृति' में भी आया है कि 'ब्रह्मचारी' गुरू के संरक्षण में रहता था[2] और गुरूमुख श्रवण के द्वारा ज्ञान ग्रहण करता था। अध्यापन के मौखिक होने के कारण गुरू का पद स्वभावतः उच्च एवं महान् हो गया। इसीलिए शिष्य को यह आदेशित किया जाता है कि वह गुरु को भगवान् का स्वरूप माने। 'दशकुमारचरित' में आया है कि विद्याध्ययन के बाद सभी कुमार 'वामदेव' के आदेश पर दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते हैं।[3] दिग्विजय के क्रम में सभी कुमार अपना वैवाहिक जीवन प्रारम्भ करते हैं। गृहस्थाश्रम दाम्पत्य जीवन से ही प्रारम्भ होता है। यह जीवन का दूसरा भाग है।[4] 'राजहंस' गृहस्थाश्रम में अपने बहुविध जीवन को यापन करता है। 'अवन्तिसुन्दरी' में भी 'दण्डी' ने गृहस्थाश्रम का बड़ा ही सुन्दर स्वरूप चित्रित किया है।[5] गृहस्थाश्रम के अनन्तर व्यक्ति की आयु का तीसरा भाग वानप्रस्थाश्रम होता है। 'मनु' के अनुसार 'जब गृहस्थ के शरीर पर झुर्रियां पड़ जाय, केश श्वेत हो जाय, पुत्र के भी पुत्र हो जाय, तब गृहस्थ को जितेन्द्रिय होकर पत्नी को साथ लेकर अथवा पत्नी को पुत्र के संरक्षण में छोड़कर वन में चले जाना चाहिए।'[6] 'दण्डी' भी 'राजहंस' को वानप्रस्थ बनने का सङ्केत किये हैं। 'राजहंस' के वानप्रस्थ ग्रहण करने की इच्छा न रखने वाले कुमारों को समझाते हुए 'वामदेव मुनि' कहते हैं ''हे कुमारों ये आपके पिताजी अपने अवस्था के अनुरूप मार्ग पर चलने वाले हैं। शरीर कष्ट के बिना ही मेरे आश्रम में रहकर 'वानप्रस्थाश्रम' का आश्रयण करना चाहते हैं।[7] 'गृहस्थाश्रम' के अनन्तर वानप्रस्थ में प्रवेश 'अवन्तिसुन्दरी' में भी दिया गया है।[8] 'उत्तररामचरित' में भी वानप्रस्थी लोगों का उल्लेख मिलता है।[9] जीवन के चौथे और अन्तिम भाग को सन्यास आश्रम कहते हैं। सन्यास शब्द का तात्पर्य पूर्णत्याग है।[10] यह वानप्रस्थ के बाद प्रारम्भ होता है, जब व्यक्ति पूर्ण एकाग्र

---

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 38–39।
2. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, उ0प्र0, 2000, श्लो. 1/4।
3. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 40।
4. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, उ.प्र., 2000, श्लो. 1/4।
5. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 195 – न चान्यदस्ति गार्हस्थ्याद् गरिष्ठम्। गृहाश्रमो हि शेषाश्रमाणां विश्रमाद्वारेश्च काश्यपतीर्थश्रीनद्रीह्रदयस्व।
6. मनुस्मृति, संस्कृत संस्थान, बरेली, उ.प्र., 2000, श्लो. 6/1–4।
7. दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, उपसंहार, पृ. 439।
8. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 139–40।
9. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2004, श्लो. 1/25।
10. गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2004, 18/12।

हो जाता है तो वह सन्यास आश्रम में पहुँचता है। वामदेव ऋषि अपने जीवन के अन्तिम एवं सर्वोच्च पड़ाव सन्यासाश्रम में ही विराजमान हैं।[1] 'सामाजिक, धार्मिक नियमानुसार सामान्यतः मानव जीवन के चार प्रमुख आश्रमों में विभक्त होना यह प्रदर्शित करता है कि समाज के प्रत्येक सदस्य का जीवनकाल शिक्षा, पारिवारिक जीवन और फिर सांसारिक जीवन से मुक्त सन्यासी रूपी कठोर जीवन में बढ़ता था।'[2] इस प्रकार दण्डी के चारों आश्रमों का स्वभावतः चित्रण ही तत्कालीन आश्रम–व्यवस्था का परिचायक है।

पुरुषार्थ –

प्राचीनभारतीयमनिषियों ने आश्रम–व्यवस्था में मनुष्य की मानसिक, शारीरिक तथा सामाजिक अवस्थाओं पर गंभीर चिन्तन किया था। मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन में सामान्यरूप से जिन पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयासरत रहता है वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। इस प्रकार पुरुषार्थ का तात्पर्य विवेकशील मनुष्य के जीवन में व्याप्त लक्ष्यों का सपुंजन है जिसमें मनुष्य के नैतिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक सभी प्रकार के लक्ष्य को सम्मिलित किया जाता है। पुरुषार्थ ही मनुष्य को मनुष्य होने का गौरव प्रदान करता है। पुरुषार्थ 'पुरुष' तथा 'अर्थ' दो शब्दों से मिलकर बना है। पुरुष का तात्पर्य विवेक संपन्न मनुष्य से है तथा अर्थ का निहितार्थ लक्ष्य से है। 'दण्डी' ने सर्वप्रथम धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इसके बिना काम और अर्थ की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः धर्म काम और अर्थ की अपेक्षा नहीं रखता। यह धर्म ही निवृत्ति सुख का मूल कारण है। धर्म, अर्थ और काम की तरह बाह्य साधनों के अधीन नहीं रहता। तत्त्वज्ञान के उत्कर्ष को प्राप्त धर्म से किसी भी तरह यदि अर्थ और काम का अनुष्ठान किया जाय तो उनसे बाधित हो जाता है। अल्प प्रयास से ही सम्पूर्ण दोषों को नष्टकर विपुलश्रेयस का कारण बनता है।[3] अर्थ की परिभाषा में लिखते हैं "अर्जन, वर्धन, और उसे नष्ट होने से बचाना ही अर्थ का तत्त्व है।"[4] 'सत्पुरुषों को दान देना ही अर्थ का फल है। कृषि, पशुपालन, व्यापार, सन्धि और विग्रह ही अर्थ के परिवार हैं।'[5] काम की व्याख्या में 'दण्डी'

---

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 21–2।
2. गुप्ता डी.के., सोसाइटी एण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्डिन्, मे.च.ल.दा., देहली. 1972, पृ. 224।
3. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 140–41।
4. वही, पृ. 143 – अर्थस्तावदर्जनवर्धनरक्षणात्मकः।
5. वही।

लिखते है "स्त्री–पुरुष वासनावश परस्पर अत्यन्त आसक्त चित्त से जिसमें स्पर्श सुख का अनुभव करते हैं, उसे काम कहते हैं। रमणीयता और उज्ज्वलता ही इसके परिवार हैं। इस काम का फल परमानन्द है। वह आनन्द स्त्री–पुरुष के परस्पर आलिङ्गन–चुम्बन आदि से उत्पन्न होता है। स्मरण करने पर यह बड़ा ही मधुर लगता है।"[1] इस प्रकार 'दण्डी' ने धर्म, अर्थ और काम की व्याख्या करके मनुष्य को मोक्ष के नजदीक पहुँचा देते हैं।

मोक्ष प्राप्ति मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है। मोक्ष से ही मनुष्य भवबन्धनों से मुक्त होता है। इस अवस्था तक पहुंचने के लिए धर्म, अर्थ और काम साधन हैं जिसका उल्लेख करके दण्डी ने तत्कालीन समाज में पुरुषार्थ चिन्तन को प्रतिपादित किया है।

संस्कार –

संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु में घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है, जिसका तात्पर्य है– पूर्ण करना, संस्कृत करना, परिष्कृत करना आदि होता है,[2] अर्थात् जिस पुण्य कृत्यों द्वारा मनुष्य को शुद्ध कर दिया जाय, चमका दिया जाय, वही संस्कार है। अन्यान्य संस्कृत साहित्यों में इसका प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण[3], सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण–सम्बन्धी शुद्धि,[4] संस्करण परिष्करण[5] शोभा, आभूषण,[6] प्रभाव, स्वरूप, स्वाभाव, क्रिया, छाप,[7] स्मरणशक्ति, पर पड़ने वाला प्रभाव[8] शुद्धि क्रिया, धार्मिक विधि–विधान, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम क्रिया की विशेषता आदि रूपों में हुआ है।[9] वैदिक संस्कृति में मानव जीवन के लिए सोलह संस्कारों का विधान प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह है कि जीवन में सोलह बार मानव को बदलने का उसके नवनिर्माण का प्रयत्न किया जाता है। यथा– सुनार अशुद्ध सोने को अग्नि में डालकर उसका संस्कार करता है उसी

---

1. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 143।
2. आप्टे शिवरामवामन, संस्कृत हिन्दी कोश, 1994, दिल्ली-वाराणसी, पृ. 1051।
3. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 3/35 – निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्।
4. कुमारसम्भवम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1997, 1/28 – संस्कारवत्ये व गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च।
5. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 3/18 – प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं वभौ।
6. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1991, 7/33 – स्वभावसुन्दरं वस्तु न संस्कारमपेक्षते।
7. हितोपदेश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2000, 1/8 – यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत।
8. तर्कसंग्रह, चौ.सु.भा.प्र., वाराणसी, 1983 – संस्कार जन्यं ज्ञानं स्मृति।
9. रघुवंश, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970, 1/20– फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव।

प्रकार बालक के उत्पन्न होते ही उसे संस्कारों की भट्ठी में डालकर उसके दुर्गुणों को निकाल कर उसमें सद्गुणों का विकास करने के प्रयत्न को वैदिक विचारधारा में संस्कार कहा गया है। जैमिनिसूत्र की टीका में शबर स्वामी ने लिखा है "संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता है।"[1] तन्त्रवार्तिक में संस्कार के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है कि "वे क्रियाएं तथा रीतियाँ जो योग्यता प्रदान करती हैं, संस्कार कहलाती हैं।"[2] ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य के अनुसार "किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के दोषों को दूर करके उसमें गुणों का आधान करने वाली क्रिया–विधि का नाम संस्कार है।[3] आचार्यमनु का मन्तव्य है कि "इस लोक में तथा मरणान्तर परलोक में पवित्र करने वाला ब्राह्मणादि वर्णों का गर्भाधानादि शारीरिकसंस्कार वैदिकमन्त्रों से करना चाहिए।"[4] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति या वस्तु को दोष रहित कर के कर्त्तव्यबोध की योग्यता प्रदान करनेवाली विशेष क्रियाविधि को संस्कार कहते हैं।

संस्कार का उद्देश्य–

वास्तव में मानव के स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर दोनों को स्वस्थ एवं शुद्ध बनाकर सद्गुणों का निर्माण करना ही संस्कार का उद्देश्य है। संस्कार व्यक्ति को सुसंस्कृत करने की एक धार्मिक क्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य का परिष्कार होता है। प्राचीन धर्म ग्रन्थों में ऐसे अनेक संस्कारों का उल्लेख मिलता है, जो गर्भाधान से प्रारम्भ होकर मृत्युपर्यन्त सम्पादित होते हैं। इन ग्रन्थों में जो संस्कार मिलते हैं वे मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इन संस्कारों को करने से व्यक्ति के अन्तःकरण में शुद्ध भावना का संचार होने लगता है। आचार्यमनु ने समस्त संस्कारों से संस्कारित व्यक्ति को ही धर्मशास्त्र का अधिकारी स्वीकार किया है।[5] एस.डी. सिंह का मानना है कि "हिन्दू जीवन के विकास में संस्कारों का महान् योगदान है। मनुष्य का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन संस्कारों की निष्पन्नता

---

1. जैमिनिसूत्र, 3.1.3, भारत की संस्कृति साधना, रामजी उपाध्याय, पृ. 21 – "संस्कारो नाम स भवति यस्मिंजायते पदार्थोभवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य"।
2. तंत्रवार्तिक, पृ. 1078, भारत की संस्कृति साधना, उपाध्याय, पृ. 21 – 'योग्यता चादधानाक्रियाः संस्काराः इत्युच्यन्ते'।
3. ब्रह्मसूत्र, भा.वि.प्र., वाराणसी, 1998, 1.1.9 – संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषाय नयनेन वा।
4. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, 2000, 2.26 – वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीर संस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।।
5. वही, 2.16।

से प्रभावित होता रहा है। अतः संस्कार का आधार धर्म है, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन को उन्नत, परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाता है।[1]

संस्कार और संस्कृति–

संस्कार और संस्कृति का सामाजिक उपादानों से अन्योन्याश्रित संबंध है। संस्कृति मानवीय कृति होने के कारण मानव की ही भांति प्रगतिशील है। संस्कृति ही मानव का समग्र परिष्कार करती है। संस्कार शब्द का सामान्य अर्थ है– पूर्ण करना, संशोधन करना, सुधारना, संवारना या शुद्ध करना। गुणांतराधानसंस्कार अर्थात् किसी व्यक्ति या वस्तु में अन्य गुणों एवं योग्यताओं का आधान करना संस्कार है। संस्कार–संपन्नता, मानव–हृदय को दया, करुणा, अहिंसा, मानवता, आदर्श, आस्था, दान, सत्य, प्रेम, उदारता, त्याग, बंधुत्व आदि महनीय गुणों से संपृक्त करती है। संस्कारपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाला मनुष्य ही सही अर्थों में मानव बनता है। उसके दुःखों का हरण, चित्त की शुद्धि और मन की मलिनता को दूर कर मोक्ष तक पहुंचाने वाला होता है।

संस्कारों के अभाव में जीवन में गुणों की अभिवृद्धि, मूल्यों का संवर्द्धन, मनुष्यत्व का बोध, परार्थ का भाव तथा पुरुषार्थ चतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को प्राप्त ही नहीं किया जा सकता। संस्कार ही मानव–स्वभाव पर शासन करता है और मानव–हृदय को मृदुल एवं पावन बनाता है। मानव–हृदय संस्कारों से ही विशाल और उदार बनता है। संस्कार व्यक्ति या वस्तु को पात्रता प्रदान करता है। इसी दृष्टि से संस्कार और संस्कृति का गहरा संबन्ध है। भारतीय धर्मशास्त्रों में संस्कार–संपन्न व्यक्ति की उन्नति और संस्कारहीन व्यक्ति की अवनति की चर्चा बार–बार की गई है। संस्कार–संपन्नता से बुरे संस्कारों का शमन और श्रेष्ठ संस्कारों का जन्म होता है। संस्कारों की पूर्णता आध्यात्मिक जीवन के साथ वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में विकसित भारतीयजीवन–पद्धति सर्वस्वीकृत एक महत्वपूर्ण अनुष्ठानिक प्रक्रिया है। संस्कार व्यक्ति को संवारते हैं, तो संस्कृति समाज को संवारती है। यदि एक का संबंध व्यष्टि से है तो दूसरे का संबंध समष्टि से है। उत्तम संस्कारों से ही श्रेष्ठ संस्कृति का स्वरूप निर्मित होता है और संस्कृति मानव का समग्र संस्कार कर उसे सुसंस्कृत करती है।

संस्कारों की संख्या–

संस्कारों की संख्या के सन्दर्भ में धर्मशास्त्रों में अनेक मत मिलते हैं। गौतम ने चालीस संस्कारों का उल्लेख किया है, जो जीवन के विविध भागों को प्रकाशित

1. सिंह डा. एस.डी., धर्म समाजशास्त्र, पृ. 402।

करनेवाले हैं।[1] महर्षि वेदव्यास ने षोडश संस्कारों का वर्णन किया है।[2] स्मृतिचन्द्रिका द्वारा उद्धृत जातूकर्ण्य में इन षोडश संस्कारों का नाम इस प्रकार मिलता है– गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, मौञ्जीबन्धन (उपनयन), वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, सन्यास व अन्त्येष्टि को ही प्रमुख संस्कार माना है।"[3] राधाकृष्णन ने जातकर्म, उपनयन, विवाह तथा अन्त्येष्टि को ही प्रमुख संस्कार माना है।[4]

दण्डी की कृतियों में प्रतिपादित संस्कार–

दण्डी की कृत्तियों से तत्कालीन समाज के विविध क्रिया–कलापों का विस्तृत परिचय मिलता है। इसमें लोक प्रचलित रीति–रिवाज, खान–पान, उत्सव–महोत्सव व अन्य सांस्कृतिककृत्यों का पर्याप्त वर्णन है। सांस्कृतिककृत्यों का ही एक भाग संस्कार है अतः इनकी कृतियों में प्रतिपादित संस्कारों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। दशकुमारचरित के संस्कारों के सम्बन्ध में डॉ. सुधीर कुमार गुप्त का मानना है "गृह्य संस्कारों में सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चौल, उपनयन और दाह का नाम आया है। विवाह–विधियों में गन्धर्व–विवाह का प्रचलन दिखाया गया है, इस विवाह के मूल में स्वप्न, चित्र अथवा साक्षात् दर्शन से प्रेम की उत्पत्ति है। अन्तर्जातीय और अन्तर्देशीय विवाह बहुशः प्रचलित थे, जातिवाद लचीला था।"[5]

सीमन्तोन्नयनसंस्कार–

संस्कारों के क्रम में प्रथम संस्कार सीमन्तोन्नयनसंस्कार का दर्शन होता है। सीमन्तोन्नयन का अर्थ सीमन्त + उन्नयन अर्थात् केशों में मांग निकालना या उनको ऊपर उठाना है। यह संस्कार गर्भधारण के चौथे या आठवें मास में सम्पन्न किया जाता है। इसमें तेल–इत्र पदार्थों से पति अपने पत्नी के केशों को संवारता है। इस संस्कार का प्रयोजन है– सन्तान को दुष्ट प्रेतात्माओं से बचाना। 'दशकुमारचरित' में वर्णित है कि "जब महाराज राजहंस की पत्नी वसुमति गर्भधारण करती हैं, तो राजहंस

1. पाण्डेय राजबली, हिन्दू संस्कार, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1995, पृ. 22–23।
2. व्यासस्मृति, 1.14–15 – गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च। नामक्रिया निष्क्रमणोऽ– न्नप्राशनं वपनक्रिया।। कर्ण वेधो व्रतादेशो वेदारम्भ क्रिया विधिः। केशान्तः स्नानमुद्वाहोविवाहोग्नि परिग्रहः।। त्रेताग्नि संग्रहश्चैव संस्काराः षोडशः स्मृता।
3. काणे पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992, पृ. 178।
4. राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृ. 157।
5. गुप्त डॉ. सुधीर कुमार, दण्डी एक अध्ययन, अनुसंधानशाला, आर–2, विश्वविद्यालय पुरी, जयपुर–4, 1969, पृ. 68।

अपने मित्र राजाओं को आमन्त्रित कर, सम्पत्ति तथा मनोरथ के अनुसार रानी वसुमति का सीमन्तोन्नयन संस्कार करता है।"[1] "याज्ञवल्क्य एवं व्यास जी ने इस संस्कार को केवल सीमन्त की संज्ञा दी है। इसका वर्णन आश्वलायन, शांखायन, हिरण्यकेशीय, बौधायन, भारद्वाज, गोभिल, पारस्कर, काठक एवं वैखानस गृह्यसूत्रों में मिलता है।[2] आपस्तम्ब, बौधायन, भारद्वाज एवं पारस्कर गृह्यसूत्रों में स्पष्ट लिखा है कि इसे केवल एक बार प्रथम गर्भाधान के समय किया जाना चाहिए। विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार यह संस्कार स्त्री का है, किन्तु अन्य लोगों ने इसे भ्रूण का माना है और इसे प्रति गर्भाधान के लिए आवश्यक बतलाया है।[3] यद्यपि मनु आदि आचार्यों ने इसका उल्लेख तक नहीं किया है परन्तु जीवन में प्रचलन के कारण आचार्यदण्डी ने यहाँ प्रस्तुत किया है। इस संस्कार का प्रयोजन सन्तान को अनिष्ट से रक्षा करना तथा स्त्री को प्रसन्न रखना है। इसमें पति जब अपने पत्नी के केशों का शयमन करता है तो पत्नी को मानसिक शान्ति मिलती है। उसे पति के सानिध्य की उस समय आवश्यकता होती है क्योंकि गर्भावस्था अत्यन्त पीड़ा का समय होता है। पति के हाथों से केशों के शयमन से उसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। अतः इस संस्कार में मनोवैज्ञानिक प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है।

जातकर्म एवं नामकरणसंस्कार–

रानीवसुमति के सीमन्तोन्नयनसंस्कार पश्चात् गर्भ के नौ मास नौ दिन पूरा होने पर शुभ मुहूर्त में सकल शुभ लक्षणों से युक्त एक सुन्दर बालक ने जन्म लिया। उसी समय महाराज राजहंस ने पुरोहित के आज्ञानुसार उस नवजात शिशु का जातकर्मसंस्कार किया तथा बालोपयोगी आभूषणों से अलंकृत करके बालक का नाम राजवाहन रखा।[4] जातकर्मसंस्कार बालक के जन्म के समय, विशेष रूप से नाभिछेदन के पूर्व किया जाता है। इसका उद्देश्य बालक को अनिष्टकारी प्रभावों से रक्षा करना और स्वस्थ एवं दीर्घायु होंने की कामना करना है। आचार्यमनु भी कहते हैं कि "नाभिच्छेदन से पूर्व पुरुष का जातकर्म संस्कार होता है और सोना, घी तथा मधु

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 12 – निजसम्पन्मनोरथानुरुपं देव्याः सीमन्तोत्सवं व्यधत्त।
2. काणे डॉ. पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992, पृ. 189।
3. निखरा डॉ. ओमप्रकाश, हरिवंशपुराण में धर्म, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1991, पृ. 266।
4. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 1972, पृ. 27 – ब्रह्मवर्चसेन तुलितवेधसं पुरोधस पुरस्कृत्य कृत्यविन्महीपतिः कुमार सुकुमारं जातसंस्कारेण वालालंकारेण च विराजमानं राजवाहननामान व्यधत्त।

का गृह्यमन्त्रों से प्राशन कराया जाता है।''[1] अतः इस संस्कार का सम्बन्ध आयुर्वेद से है क्योंकि बच्चे को पिता द्वारा शहद आदि चटा कर ही माँ का स्तनपान कराया जाता है। जिससे उसके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। 'विष्णुपुराण' में जातकर्म-संस्कार विधि-पूर्वक किया जाता है उसमें पिता द्वारा वस्त्र सहित स्नान करके, नन्दीमुख, पितृगण की प्रसन्नता हेतु आभ्युदयिकश्राद्ध किया जाता है।[2] महाकवि-अश्वघोष ने बुद्धचरित महाकाव्य में जातकर्मसंस्कार का उल्लेख किया है।[3] जो दशकुमारचरित के अनुरूप ही है। इस कथन का अभिप्राय है कि बुद्धचरित में जिस प्रकार जातकर्मसंस्कार और नामकरणसंस्कार एक ही दिन सम्पन्न हुआ है उसी प्रकार दशकुमारचरित में भी दोनों संस्कारों को एक ही दिन किया गया है। वस्तुतः प्रसव के छः दिन बाद छठी की जाती है और दसवें दिन वेद रीति के अनुसार शिशु का नाम रखा जाता है। मनुस्मृति में उल्लिखित है कि जन्म के दशवें या बारहवें दिन नवजात शिशु का नामकरणसंस्कार किया जाता है। नामकरणसंस्कार शुभतिथि, मुहूर्त एवं गुणयुक्त नक्षत्र में सम्पन्न किया जाता है।[4] जातकर्मसंस्कार एवं नामकरणसंस्कार के एक ही दिन होने के पीछे कारण स्पष्ट है कि प्राचीनसमय में शिशु जन्म के समय पर यज्ञादि कार्य होते थे। अब वह प्रक्रिया समाज में कठिन हो गई है। इसलिए जातकर्म और नामकरण दोनों को एक ही साथ कर दिया जाता है। हरिवंश पुराण में नन्दगोप द्वारा दोनों बालकों का नामकरणसंस्कार किया जाता है। बड़े बालक का नाम संकर्षण और छोटे बालक का नाम कृष्ण रखा गया।[5] 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भी शकुन्तला के पुत्र का नामकरणसंस्कार किया गया है।[6] चन्द्रापीड के नामकरण-संस्कार पर वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं "छठी पूजन की रात्रि बीतने पर जब नामकरण का दिन आया तो राजा ने कोटि-कोटि सुवर्ण ब्राह्मणों को दान देकर अपने पुत्र का नाम चन्द्रापीड रखा क्योंकि स्वप्न में उसे माता के मुख में प्रविष्ट होता हुआ चन्द्रमा दिखाई पड़ा था।''[7] नारदपुराण में आया है कि कुल की रीति के अनुसार नामकरणसंस्कार होता है, बालक का भली-भांति विचार कर देवतादि वाचक मंगलदायक

1. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, 2000, 2/29।
2. विष्णुपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2063, 3/10/4।
3. बुद्धचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1995, 1/82।
4. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, 2000, 2/30।
5. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1994, 2.6.2 – दारकौ कृत नागानौ ववृधाते सुखं च तौ। ज्येष्ठः संकर्षणोनाम कनीयान कृष्णण्व तु।।
6. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1991, 7–33।
7. अग्रवाल डॉ. वासुदेवशरण, कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1998, पृ. 89।

एवं उत्तम नाम रखना चाहिए।[1] जिससे बालक को प्रोत्साहन मिले। वह अपने नाम पर गौरव का अनुभव करें।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य को जिस तरह के नाम से पुकारा जाता है उसे उसी प्रकार की अनुभूति होने लगती है। वह उसी नाम के अनुरूप व्यवहार करने लगता है। यदि किसी को कूड़ेमल, घूरेमल, डीलेमल आदि नामों से पुकारा जायेगा तो उसमें हीनता के भाव स्वतः आ जाते हैं। अगर किसी को रामावतार, कृष्णावतार, विद्याभूषण, विष्णुप्रसाद आदि के नामों से पुकारा जाये तो उसमें अपने नाम को सार्थक बनाने की कई अभिलाषाएं मन में जागृत होती है। जनसामान्य भी किसी के नाम के अनुरूप ही उसके व्यक्तित्व की हल्की या भारी कल्पना करते हैं। इसलिए नाम का अपना विशेष महत्त्व होता है। जिसे हिन्दू धर्म में संस्कारपूर्वक रखा जाता है। दशकुमारचरित में अन्य राजाओं और मन्त्रिपुत्रों का उनके वंश एवं गुण युक्त सुन्दर नाम राजहंस द्वारा रखा जाता है– मिथिलेश्वर के बड़े पुत्र का नाम उपहारवर्मा और छोटे पुत्र का नाम अपहारवर्मा। रत्नोद्भव के पुत्र का नाम पुष्पोद्भव, कामपाल के पुत्र का नाम अर्थपाल, तथा सत्यवर्मा के पुत्र का नाम सोमदत्त। अतः इन नामों में वंशानुकूलता एवं गुणानुकूलता का ध्यान दिया गया जो नामकरण परम्परा के प्रमाण स्वरूप हैं।

चूड़ाकरण, उपनयन, वेदारम्भ एवं समावर्तनसंस्कार–

सभीकुमारों के इकट्ठा होने तक राजवाहन बालक्रीड़ा करता हुआ अनेक वाहनों पर चढ़ने में निपुण हो गया तत्पश्चात् राजवाहन का चूड़ा, उपनयन, वेदारम्भ और समावर्तनसंस्कार किया गया। तब इसके बाद उसने शास्त्रों का ज्ञानार्जन करना प्रारम्भ किया।[2] चूड़ाकरणसंस्कार सामान्यतः जन्म के प्रथम या तीसरे वर्ष में किया जाता है जो बच्चे की दीर्घायु के लिए अनिवार्य माना जाता है। इसमें बच्चे का प्रथम बार बाल मुण्डन होता है, जिससे केश घनें एवं काले हो जाते हैं। तदनन्तर राजवाहन का उपनयन संस्कार होता है, जिसके पश्चात् ही वह शास्त्र अध्ययन का अधिकारी बनता है। इसी पर डॉ0 राममूर्तिचौधरी का कथन है "दण्डी के अनुसार उपनयन के बाद लिपिज्ञान, भाषा, वेद, काव्य, नाटक, अध्ययन, इतिहास, पुराण, चित्रकला व राजनीति, युद्ध विद्या का अभ्यास किया जाता था।"[3] उत्तररामचरित से भी ज्ञात होता

---

1. नारदपुराण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद, 1990, पूर्व भाग – 56/328।
2. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 1972, पृ. 46–47।
3. चौधरी डॉ. राममूर्ति, हरिवंश पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 1989, पृ. 44।

है कि "चूड़ाकरणसंस्कार होने के पश्चात् ही लव और कुश ने आन्वीक्षिकी, वार्ता, दण्डनीति इन तीनों विद्याओं का अध्ययन किया और ग्यारहवें वर्ष उपनयनसंस्कार के बाद वाल्मीकि ने उन्हें वेद पढ़ाया।[1] उपनयनसंस्कार द्विज वर्णों में यज्ञोपवीत धारण करने से सम्बन्धित है और ब्रह्मचर्यजीवन के प्रारम्भ से पूर्व ही किया जाता है। उपनयन का सामान्य अर्थ है– पास या सन्निकट ले जाना अर्थात् उपनयनसंस्कार से बालक को आचार्य के निकट ले जाना। जिससे बालक को आचार्य का सानिध्य प्राप्त होता है। इस संस्कार में बालक को आचार्य वेदोक्त गायत्रीमन्त्र का उपदेश देता है जिसे गायत्री मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित यज्ञोपवीतसंस्कार या दीक्षासंस्कार भी कहा जाता है। इस संस्कार के द्वारा आचार्य शिष्य को नवीन आध्यात्मिक देह प्रदान करता है।[2]

अतः इस संस्कार को आध्यात्मिक पुनर्जन्म कहा जाता है। उपनयन संस्कार से उपदिष्ट व्यक्ति ही द्विज कहलाने का अधिकारी होता है। अथर्ववेद में मुण्डन, चूड़ाकरण और उपनयन आदि संस्कारों का उल्लेख मिलता है। जैसे– अदिति बाल बनावे और जल उन्हें अपनी शक्ति से गीला करे।[3] सविता ने उस्तरे से राजा सोम के बाल बनाये थे।[4] उपनयनसंस्कार से अन्न, संतान और पशुधन की समृद्धि होती है।[5] अतः वैदिकजीवन में इन संस्कारों का बहुत व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। दशकुमारचरित में जब राजवाहन दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर रहे थे तो उन्हें मातङ्ग नामक किरात जङ्गल में मिला था जो कन्धे पर ब्राह्मण के समान जनेऊ (यज्ञोपवीत) धारण किये हुए था।[6] अतः इस तथ्य से एक बात सामने आती है कि दण्डी के समय में जन–सामान्य लोग भी जनेऊ धारण करते थे और उनका उपनयन संस्कार भी होता था। विश्रुत ने भी भास्करवर्मा नामक राजकुमार का शुभदिवस पर उसका बाल बनाकर पुरोहित से जनेऊसंस्कार कराया था।[7] 'मृच्छकटिक' में भी यज्ञोपवीत धारण किये हुए चारुदत्त को दिखलाया गया है।[8] 'हर्षचरित' के वंशवर्णन क्रम में महाकविबाणभट्ट ने भी अपने उपनयनसंस्कार का उल्लेख किया है।[9] इस प्रकार उपनयनसंस्कार का भारतीयजीवन में व्यापक प्रभाव था।

1. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2004, श्लो. 2–4।
2. निखरा डॉ. ओमप्रकाश, हरिवंश पुराण में धर्म, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1991, पृ. 268।
3. अथर्ववेद, विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्युट, होशियारपुर, 1960, 6.68.2।
4. वही, 6.68.3।
5. वही, 5.28.3।
6. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 1972, पृ. 51।
7. वही, अष्टमोच्छवास, उत्तरपीठिका, पृ. 280।
8. मृच्छकटिकम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2001, अंक 10–18।
9. हर्षचरितम्, मो.ला.व.दा., वाराणसी, प्रथमोच्छ्वास, पृ. 32।

विवाहसंस्कार–

'दशकुमारचरित' में उपनयन आदि संस्कार के बाद सभी राजकुमारों का विवाहसंस्कार होता है। यह दो आत्माओं का पवित्र बन्धन है। दो प्राणी अपने अलग–अलग अस्तित्वों को समाप्त कर एक सम्मिलित इकाई का निर्माण करते हैं। स्त्री–पुरुष दोनों में परमात्मा ने कुछ विशेषताएं और कुछ अपूर्णताएं रखी है। जो विवाह सम्मिलन से एक–दूसरे की अपूर्णताओं को अपनी विशेषताओं से पूर्ण करते हैं। इनसे एक समग्र व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसलिए विवाह को सामान्यतया मानव–जीवन की एक आवश्यकता माना जाता है। यह पितृऋण से मुक्त होने के लिए सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रेरित करता है जिससे वंश परम्परा की शाश्वतता बनी रहती है। पति–पत्नी को अपनी योग्यताओं एवं भावनाओं का लाभ पहुँचाते हुए गाड़ी में लगे हुए दो पहियों की तरह प्रगतिपथ पर अग्रसर होते जाना विवाहसंस्कार का उद्देश्य है। विवाह से ही शुद्ध दाम्पत्य का बोध होता है। भवभूति ने दाम्पत्य के सम्बन्ध में लिखा है "दाम्पत्य भाव सुख और दुःख में एक रूप रहता है जो जीवन की सभी अवस्थाओं में व्याप्त रहता है, जिसमें हृदय को विश्राम मिलता है, जिसके रस को वृद्धावस्था भी नहीं हर सकती है; जो समयानुसार विवाह से मृत्यु पर्यन्त परिपक्व प्रेम के सारभाग में स्थित है, उस दाम्पत्य का वह अनिर्वचनीय और विलक्षण आनन्द सर्वथा अभिष्ट है।[1] अतः स्पष्ट है कि विवाह से अलौकिक दाम्पत्य का परिचय मिलता है जिसका अनुभव जन्मजन्मान्तर तक विद्यमान रहता है। धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार के विवाह बतलाये गये हैं। इन आठ प्रकारों में से एक गान्धर्व विवाह है जो दशकुमारचरित में वर्णित है। दण्डी ने सभी राजकुमारों के विवाह में गान्धर्व विवाह की प्रथा का अंकन किया है। इसके सम्बन्ध में आचार्य मनु का कथन है "जब कन्या एवं वर कामुकतावश स्वेच्छापूर्वक परस्पर संभोग करते हैं तो उस विवाह को गान्धर्वविवाह कहा जाता है।[2] यहाँ सभी राजकुमार यौवन के आकर्षण से अपनी प्रेमिका से विवाह करते हैं। उनके वैवाहिक दाम्पत्य का प्रथम लक्ष्य संभोग था तथा द्वितीय लक्ष्य पारिवारिक विश्वास। वे दाम्पत्य–स्नेह से दूर दिखलाई पड़ते हैं। रत्नोद्भव अपने प्रवास के समय कालगुप्त नामक यवन वैश्य की पुत्री के यौवन पर मोहित होकर उससे विवाह करता है।[3] सत्यवर्मा काली नामक ब्राह्मण कन्या के सौन्दर्य पर आकृष्ट होकर विवाह करता है लेकिन उससे पुत्र न होने पर उसी की बहन गौरी से विवाह

1. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2004, श्लो. 1–39।
2. मनुस्मृति, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2000, 3/27।
3. दशकुमाचरितम्, प्रथमोच्छवास, पूर्वपीठिका, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 1972, पृ. 36।

कर लेता है।[1] इससे स्पष्ट है कि विवाह द्वारा संभोग के साथ-साथ पुत्र कामना भी लोक में विद्यमान थी तथा पत्नी की बहन से विवाह करना भी विधिसम्मत था। इससे एक और बात सामने आती है कि दण्डी कालीन समाज में बहुपत्नी की मान्यता प्राप्त थी। "राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी का विवाह वैदिकपरम्परा से होता है लेकिन दोनों में पहले से प्रेम के बीज का अंकुरण हो चुका रहता है। अवन्तिसुन्दरी के पिता की अज्ञानता में विद्याधर नामक ऐन्द्रजालिक इन्द्रजाल के माध्यम से इन दोनों का विवाह करता है। वह अग्नि को साक्षी मानकर मन्त्रोच्चारण पूर्वक पूर्वयोजना के अनुसार ही इन दोनों का विवाह करता है।[2] राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी दोनों एक दूसरे के प्रति आकर्षित एवं कामातुर थे। अतः विद्याधर ने इन्द्रजाल की योजना बनाकर दोनों का विवाह सम्पन्न कराया। अर्थपाल भी कान्तिमति का पूर्व प्रेमी था, अतः कान्तिमति के पिता ने प्रजा समूह को इकट्ठा करके विधिपूर्वक अपने कन्या का पाणिग्रहण कराया।[3] इससे स्पष्ट है कि पुत्री की भावना को पिता द्वारा दण्डिकालीन समाज में आदर मिलता था। विश्रुत को मञ्जुवादिनी का हाथ रानी वसुंधरा द्वारा देने का वर्णन मिलता है।[4] विश्रुत मञ्जुवादिनी से पहले ही विवाह की अपेक्षा कर चुका रहता है। इस प्रकार पूरे दशकुमारचरित में गान्धर्वविवाह का प्रचलन दिखलाई पड़ता है। वैदिककाल से ही विवाहसंस्कार के संकेत मिलते हैं। अथर्ववेद में वर्णित है कि "अग्निहोता के रूप में स्त्री का पाणिग्रहण करता है।[5] हे कन्या पति की प्रसन्नता के लिए तुझे हम इच्छानुसार देते हैं।[6] इस स्त्री को पति की कामना है और मुझे पत्नी की दोनों यहाँ विवाह के लिए आये हैं।[7] हे संयमी राजा यह कन्या तेरी वधू होकर रहे।[8] इस प्रकार विवाहसंस्कार की परम्परा लोक में वैदिककाल से ही अबाध गति से चली आ रही है। उसके स्वरूप एवं व्यवहार में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं, लेकिन उसकी विद्यमानता समाज को स्वीकार्य है।

अन्त्येष्टिसंस्कार–

दण्डी की कृतियों में अन्त्येष्टिसंस्कार का भी वर्णन आया है। धर्मशास्त्रों में वर्णित संस्कारों में इसे अन्तिम संस्कार माना जाता है। इसमें मृत व्यक्ति को स्नान

1. दशकुमाचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 1972, पृ. 43–44।
2. वही, पञ्चमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 136।
3. वही, चतुर्थोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 1972, पृ. 122।
4. वही, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 280।
5. अथर्ववेद, विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्युट, होशियारपुर, 1960, 5.17.2।
6. वही, 2.36.7।
7. वही, 2.30.5।
8. वही, 1.14.2।

कराया जाता है व नवीन वस्त्र पहनाकर उसे अर्थी पर लिटा कर शवयात्रा के रूप में अन्त्येष्टि स्थल पर ले जाया जाता है। वहाँ शव को विधि–विधान के साथ अग्नि में दाह किया जाता है तथा उसकी राख को जल में विसर्जित कर दिया जाता है। तेरह दिन तक शोक मनाया जाता है और फिर श्राद्ध–हवन आदि किया जाता है और परलोक में मृतक की आत्मा की शान्ति के लिए अनेक अनुष्ठान आदि किये जाते हैं। इस संस्कार के महत्ता का प्रतिपादन करते हुए आचार्यमनु कहते हैं जन्म के बाद के संस्कारों द्वारा मनुष्य इस लोक पर विजय प्राप्त करता है तथा अन्त्येष्टिसंस्कार से मृत व्यक्ति परलोक का अधिकारी होता है। मृत मनुष्य के श्राद्ध आदि व्यतीत होने के पश्चाद् भी प्रतिवर्ष पितृपक्ष में श्राद्ध एंव तर्पण करते रहने का विधान है, जिससे पूर्वजों की आत्मा को कष्ट न मिले। इस प्रकार यह संस्कार इस लोक को परलोक से जोड़ता है।[1] हरिवंशपुराण में कंस का अन्त्येष्टिसंस्कार किया गया है। राजा उग्रसेन ने कृष्ण एवं अन्य यादवों के साथ कंस का अन्त्येष्टि संस्कार किया। कंस के मृत देह को शीविका में रखकर यमुना के तटपर ले जाया गया। फिर अन्त्येष्टि क्रिया के विधान से चिताग्नि से उसका सादर दाहसंस्कार किया जाता है।[2] 'दशकुमारचरित' में भी अन्त्येष्टि आदि का यही विधान दिखलाई पड़ता है "वामदेव के शिष्य देवकीर्ति सत्यवर्मा के पुत्र की धाय का दाह क्रिया सम्पन्न करता है। वह सर्पदंश द्वारा मर गयी थी।[3] आजकल सर्पदंश द्वारा मृत व्यक्ति के शव को नदी के जल में छोड़ (प्रवाह) दिया जाता है, लेकिन दण्डिकालीन लोक में सर्प द्वारा काटे हुए व्यक्ति के शव को भी सम्भवतः जला दिया जाता था। अर्थपाल के पिता कामपाल को मृतक जानकर राजा उनके अन्तिम संस्कार का आदेश देता है कि वंश के अनुरूप मेरे जीजाश्री का अन्तिम संस्कार धूम–धाम से सम्पन्न किया जाय।[4] रानी वसुंधरा ने मालवेश के प्रचण्डवर्मा का दाह संस्कार किया।[5] रामायण भी दाह क्रिया का प्रतिपादन करता है वहाँ भी राम आदि द्वारा रावण के दाहसंस्कार का वर्णन आया है।[6] भट्टिकाव्य तथा नागानन्द में भी नगर के समीप भयंकर श्मशानों (मृतकों के जलाने का स्थान) की सूचना मिलती है। जहाँ शव जलाये जाते थे और वहाँ पर मांस के

---

1. मुखर्जी डॉ. बद्रीनाथ, भारतीय सामाजिक संस्थान, पृ. 821।
2. निखरा डॉ. ओमप्रकाश, हरिवंश पुराण में धर्म, इस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1991, पृ. 279।
3. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 1972, पृ. 45।
4. वहीं, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 131।
5. वहीं, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 278।
6. उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1992, पृ. 42।

लोथड़े व खोपड़ियाँ बिखरी पड़ी रहती थी।[1] अतः दाहस्थल के वर्णन से स्पष्ट है कि दाह संस्कार प्राचीन युग से ही जन–सामान्य तक प्रचलित था। दाह संस्कार से पर्यावरण की शुद्धि होती है। इसमें तिल, घी आदि को जलाया जाता है जो वायुमण्डल को शुद्ध करता है और शव जलने के बाद उसके राख को जल में विसर्जित कर देने से जल में पल रहे अनेक हानिकारक जीव भी मर जाते हैं। इस प्रकार इस संस्कार से व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों लाभ दिखलाई पड़ता है।

दण्डी की कृतियों में आये संस्कारों के विवेचनोपरान्त यह स्पष्ट होता है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त हिन्दू संस्कारों का विधिवत् व्यवहार तत्कालीन समाज में विद्यमान था। जिसका प्रमाण शास्त्र एवं लोक दोनों है। मनुष्य के जीवन में सम्पादित विधिपूर्वक कृत्य ही संस्कार कहा जाता है, जिसके दृढ़ आधार शिला पर मनुष्य का जीवन सुखी एवं शान्तिमय हो जाता है। यहाँ सीमन्तोन्नयन संस्कार से संस्कार विधि प्रारम्भ होकर जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह की प्रक्रिया पूरी करते हुए अन्त्येष्टि तक समाप्त हो जाता है। इस प्रकार वैदिकयुगीन भारतीयसंस्कृति का स्वरूप दण्डिकालीन संस्कृति से मेल खाता है क्योंकि वेदविहित इन संस्कारों को यहाँ स्वीकार किया गया है।

दाम्पत्यजीवन –

भारतवर्ष में दाम्पत्य जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से अभेदात्मक, साहचर्यात्मक तथा जन्म–जन्मान्तरीय होने से अविच्छेद माना गया है। लोक–व्यवहार की दृष्टि से दम्पत्ति में कदाचित गुरू–शिष्य भाव तथा स्वस्वामीभाव–सम्बन्ध की कल्पना की गयी थी। यथा– उत्तरवैदिकसाहित्य से लेकर इतिहास, पुराण, स्मृतियों तथा काव्यों में परमात्मा के द्वारा स्वयं को पति और पत्नी के रूप में द्विधा विभक्त किये जाने का उल्लेख है।[2] पुराणों के अनुसार अर्द्धनारीश्वर शिव ने अपने को नर और नारी (पति–पत्नी) के रूप में विभक्त किया है।[3] एक शरीर की पति–पत्नी रूप में द्विधा विभक्त होने की कल्पना प्रथम मानव दम्पत्ति मनु–शतरूपा के विषय में भी प्राप्त होता है।[4] सामान्य मानव दम्पत्ति में अर्द्धाङ्ग के सम्बन्ध की कल्पना का सर्वप्रथम सङ्केत ऋग्वेद[5]

---

1. भट्टिकाव्य, चौ.सं.सी.आ., वाराणसी, 1988, 3/33–35/ हर्ष–नागानन्द, मो.ला.व.दा., वाराणसी, 1970, 4/18–19।
2. बृहदारण्यकोपनिषद् मो.ला.ब.दा., वाराणसी, सं0 2025, 1/4/3 – स इममेवात्मानं द्विधा पातयतयत्ततः पतिश्च पत्नी चा भवताम्।
3. विष्णुपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं0 2063, 1/17/12।
4. वही।
5. ऋग्वेद, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1991, 5/61/8

से प्राप्त होता है जहाँ पुरुष के लिए प्रयुक्त 'नेमः' (आधा) विशेषण से यह ज्ञात होता है कि वह अर्द्धाङ्गिनी (पत्नी) के संयोग से ही पूर्ण है। इस प्रकार पति और पत्नी का एकात्मभाव परिलक्षित होता है। वे सदैव एक दूसरे को सुखी देखकर ही प्रसन्न होते हैं और दुःखी देखकर अधीर हो जाते हैं। 'महाकविभवभूति' ने दाम्पत्य के सम्बन्ध में लिखा है "दाम्पत्य भाव सुख और दुःख में एक रूप रहता है जिसमें हृदय को विश्राम मिलता है। जिसके रस को वृद्धावस्था भी नहीं हर सकती, जो समयानुसार विवाह से मृत्युपर्यन्त परिपक्व प्रेम के सार भाग में स्थित है। उस दाम्पत्य का वह अनिर्वचनीय और विलक्षण आनन्द सर्वथा अभिष्ट है।"[1] वास्तव में दाम्पत्य जीवन स्थापित होने पर अभ्युदय के साथ-साथ निःश्रेयस् भी सुलभ हो जाता है। कुल पवित्र होता है। दम्पत्ति ज्ञानवान होकर पूर्ण ज्ञान सम्पन्न सन्तान प्राप्त कर स्वयं एवं संसार दोनों को कृत्य-कृत्य करते हैं। "मनुष्य की सहज वृत्ति कामवासना को पति-पत्नी एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा में परिवर्तित कर एक सांस्कृति बनाकर सामाजिक मूल्य का रूप देना दाम्पत्यजीवन की ही देन है। गृहस्थ आश्रम का कामोपभोग का प्रमाण मात्र नहीं अपितु संयम, ब्रह्मचर्यमूलक होने का प्रतीक माना गया है। पति और पत्नी एक गाड़ी के दो पहिए की तरह एक साथ मिलकर दायित्व निर्वाह करते हुए एक सफल व समर्थ गृहस्थ संस्था का निर्माण करते हैं।[2]

'महाकविदण्डी' ने अपनी कृतियों में दाम्पत्यजीवन के विविध भावों का चित्रण किया है। 'तत्कालीन समाज में स्त्रियाँ अपने पति को परमेश्वर के तुल्य मानती थी।'[3] पति के लिए ही सम्पूर्ण जीवन समर्पित था। 'वे पति के 'ओष्ठ का चुम्बन' तथा 'वक्षस्थल का आलिङ्गन केवल अपने लिए मानती थी।'[4] वे पति को अन्य के साथ रहना पसन्द नहीं करती थी। पुरुष भी अपनी स्त्री से यही आशा रखता था कि वह किसी अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित न करे। पति और पत्नी में अटल विश्वास था। राजवाहन को कर्मचारियों द्वारा पकड़े जाने पर भी अवन्तिसुन्दरी उसके कहे गये दो मास की प्रतीक्षा करती है।[5] पति और पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का माना जाता था। 'वसुमति' जब 'राजहंस' की वीरगति निश्चित कर लेती है तब वह यह कहती हुई फाँसी लगाने का प्रयास करती है, "हे लावण्यता से उपमित कामदेव के

---

1. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2004, 1/39
2. शर्मा आ. श्रीराम, गृहस्थ एक तपोवन, पृ. भूमिका।
3. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 361 – भगवति, पतिरेकदैवतं वनिताम्।
4. वही, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 108।
5. वही, षष्ठोच्छ्वास, पृ. 112-113।

समान राजन! आप पुनः मेरे आगामी जीवन में भी प्राण पति रहे।''[1] पति का सम्मान एवं स्नेह ही नारीजीवन का लक्ष्य था। स्त्रियों की प्रसन्नता पति के प्रेम और विश्वास पर ही आधारित थी। वे पति के दुःखी होने पर दुःख का अनुभव करती थी। 'रत्नवती' का पति जब उस पर अप्रसन्न रहता है तब वह कहती है ''मुझे ऐसा कोई उपाय करना चाहिए जिससे मेरे पति की मुझसे सेवा हो सके।''[2] इस तरह स्पष्ट होता है कि पति की सेवा ही स्त्रियों का सबसे बड़ा धर्म था। 'दण्डी' ने 'पति की विरक्ति एवं घृणा को स्त्रियों के लिए जीवित मौत बताया है'।[3] दाम्पत्य जीवन का परमलक्ष्य पुत्र प्राप्ति था। 'सत्यवर्मा' की पत्नी काली से जब पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ तो उसने उसकी बहन गौरी से विवाह कर एक पुत्र उत्पन्न किया।[4] 'महाकविभवभूति' भी 'पुत्र को माता–पिता के स्नेह का आधार और दोनों के लिए आनन्द की गांठ मानते हैं।'[5] 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भी आया है कि सन्तानयुक्त पुरुष का ही जीवन धन्य है।[6] अतः दाम्पत्य जीवन का फल सन्तान है, यही लौकिक और पारलौकिक जीवन का आधार है। भारतीयसंस्कृति में दाम्पत्य जीवन का लक्ष्य भोग या संग्रह नहीं बल्कि त्याग और परोपकार है। इसका प्रारम्भ धार्मिकशिक्षा और पवित्र रहन–सहन एवं ब्रह्मचर्य से होता है। 'रामायण' में मनुष्य पर तीन ऋण बतलाये गये हैं– पितृऋण, देवऋण, ऋषिऋण। इसमें पितृऋण और देवऋण को चुकाने के लिए दाम्पत्यजीवन आवश्यक है।[7] 'अवन्तिसुन्दरी' में पुत्र को अपनी आत्मा के समान कहा गया है।'[8] अर्थात् जिस प्रकार शरीर में आत्मा का महत्त्व है उसी प्रकार पुत्र का महत्त्व जीवन में है। 'राजवाहन' भी अपने वैवाहिक जीवन का सम्मान करता है। वह 'अवन्तिसुन्दरी' से अत्यन्त प्रेम करता है।[9] उसे जब पकड़ लिया जाता है तब वह खुले मंच से अपने प्रेम की घोषणा करता हुआ कहता है ''यह राजपुत्री मुझे चाहती है और मैं भी इससे प्रेम करता हूँ इस हेतु से हम लोगों के इस शुद्ध प्रेम में विघ्न न डालिये। स्त्री के पति प्रेमपरायण का भाव कवि ने कितनी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। कोई नायिका कहती

---

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 18।
2. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 359 – दौर्भाग्यं नाम जीवन्मरणमेवानानाम्।
3. वही, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 37।
4. वही, पृ. 37।
5. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2004, श्लो. 3/17।
6. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1991, 7/17।
7. रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2067, अयोध्याकाण्ड, 106/28।
8. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 43 – आत्मा वै पुत्रः।
9. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 114।

है "हे कान्त आप जाते हैं तो अवश्य जाइये भगवान् आपके मार्ग को कल्याणमय करे, मेरी भी यही इच्छा है कि मेरा जन्म उसी स्थान पर हो जहाँ आप गये हो।"[1] 'शक्तिकुमार' जब 'गोमिनी' के गृहणी जीवन को ठीक प्रकार से जान लेता है तब उससे विवाह करके घर ले आता है। घर ले आने के पश्चात् वह 'गोमिनी' की उपेक्षा कर एक वेश्या के साथ रहने लगता है परन्तु गोमिनी के मन में रञ्च मात्र भी खिन्नता नहीं आई। 'गोमिनी' वेश्या के साथ प्रिय सखी के समान व्यवहार करती थी।[2] 'शक्तिकुमार' इतना बड़ा अपराधी रहता है फिर भी गोमिनी पूर्ण सद्भाव के साथ उसकी सेवा में तत्पर रहा करती थी। घर के समस्त कार्य–भार को सुचारू ढंग से पूरा करती थी।[3] 'दण्डी' का इस तरह के स्त्री जीवन को चित्रित करने से तत्कालीन समाज में स्त्रियों के समर्पण की भावना प्रकट होती है। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी शकुन्तला को उपदेश देते हुए कण्वऋषि कहते हैं "पतिगृह में पहुँचकर अपने गुरूजनों की सेवा करना, अपनी सौतों से प्रिय सखी की तरह व्यवहार करना, अपमानित होने पर भी क्रोधवश कभी पति के विपरीत आचरण न करना, अपने सेवकजनों पर अत्यन्त उदार रहना, अंपने भाग्य पर कभी अहंकार न करना इस प्रकार आचरण करने वाली स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी के पद पर अधिष्ठित होती हैं। इसके विपरीत आचरण करने वाली स्त्रियाँ कुल के लिए व्याधि होती हैं।"[4] इसी प्रकार 'दण्डी' की 'गोमिनी' भी 'कण्व' द्वारा दिये गये उपदेशों का पालन करके पुनः गृहलक्ष्मी पद को प्राप्त करती है।[5] कवि दण्डी ने भी अपने माता–पिता के दाम्पत्य- जीवन के सम्बन्ध में एकात्मभाव का उद्घाटन किया है। वास्तव में दाम्पत्यजीवन ही मनुष्य के ऐहिक एवं पारलौकिक जीवन का आधार स्तम्भ है। एकात्मभाव होने पर ही इसे पूर्ण माना जाता है। पति और पत्नी स्नेह से आपुरित हो जीवन का नव निर्माण करते हैं। मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन का विकास दाम्पत्यजीवन से ही सम्भव है। जो दण्डी की कृतियों में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

विवाहेतरसम्बन्ध –

दण्डिकालीन समाज में विवाहेतरसम्बन्ध भी प्रचलन में था। स्त्री और पुरुष दोनों अपने जीवन साथी के व्यवहार से अप्रसन्न होकर दूसरे से सम्बन्ध स्थापित कर लिया करते थे। रानी 'कल्पसुन्दरी' 'अपने पति 'विकटवर्मा' के व्यवहार से दुःखी होकर

1. काव्यादर्श, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1984, पृ. 2/441/1।
2. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 357।
3. वहीं, पृ. 357।
4. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1991, 4/8।
5. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 358।

'उपहारवर्मा' के सौन्दर्य पर रीझकर अपने पति 'विकटवर्मा' को नवीन देह के लिए आमन्त्रित कर यज्ञकुण्ड में उसके शरीर को टुकड़े-टुकड़े में कटवाकर डलवा देती है।'[1] 'आचार्यबलदेव उपाध्याय' 'दण्डी' के स्त्री हृदय की आलोचना करते हुए लिखा है– "नारी हृदय की परख दण्डी को खूब थी। कही पति वचंक क्रूरहृदया नारी का जघन्य चित्र है तो कही पतिप्राणा, पतिव्रता के कोमल हृदय की मनोरम झाँकी है। 'धूमिनी' स्त्री–हृदय की क्रूरता का जघन्य प्रतीक है, तो गोमिनी पतिप्राणा सती गेहिनी की उज्ज्वल मूर्ति है। धूमिनी जैसी क्रूरहृदया नारी के चित्रण के लिए आलोचक वर्ग दण्डी का सर्वदा ऋणी रहेगा।"[2] 'कल्पसुन्दरी' अपने पति की हत्या करवाकर 'उपहारवर्मा' को ही नवीन देहधारी 'विकटवर्मा' के रूप में प्रसिद्ध कर सुख से रहने लगती है। 'धूमिनी' अपने पति को कुँआ में ढकेल कर एक पंगु व्यक्ति के साथ भाग कर उज्जयिनी में ऐश्वर्य पूर्वक जीवन यापन करने लगी।[3] 'बलभद्र' अपने पत्नी 'रत्नवती' से नाराज होकर रत्नवती के साथ ही उसे दूसरी स्त्री समझकर भाग जाता है।[4] 'काव्यादर्श' में भी कोई नायिका कहती है "हे प्रिय मै सत्य कहती हूँ तुम दूसरी नायिका की नेत्र चुम्बन करने पर उसके अधरलिप्त लाक्षा द्वारा रंजित हुए नेत्रों से मुझे देखने का अवसर नहीं पा सकोगे, जब भी मुझे पता होगा कि तुमने मुझसे दूसरी नायिका के साथ सम्पर्क स्थापित किया है, तब मैं तुमको अपने पास फटकने नहीं दूंगी।"[5] इन तथ्यों स्पष्ट हो जाता है कि 'दण्डी' कालीन समाज में विवाहेतर सम्बन्ध भी प्रचलित थे।

स्त्रीसमाज–

प्राचीन भारतीय स्त्रियों का स्थान गौरवपूर्ण था। सैन्धव तथा उससे भी पूर्ववर्ती सभ्यताओं में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं में वे मातृदेवी के रूप में समाहित थी। वैदिकयुग में नारी अनेक रूपों में महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। उन्हें माता के रूप में, दुहिता के रूप में, प्रेयसी के रूप में, पत्नी के रूप में तथा गृहस्थ जीवन में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। मन्त्रद्रष्टा विदुषी नारियों में लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, सिकता, विशपला, निवापरी आदि विशेष समादृत हैं। 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर वधू

---

1. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 25।
2. उपाध्याय आचार्य बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1992, पृ. 405।
3. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 344।
4. वही, पृ. 363।
5. काव्यादर्श, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984, 2/125।

को गृह की साम्राज्ञी कहा गया है।[1] 'रामायण' एवं 'महाभारत' में भी प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि महाकाव्य काल में स्त्री की सामाजिक दशा सन्तोषजनक थी। 'महाभारत' में आया है कि 'स्त्रियों की अनुपस्थिति में किये जाने वाले सामाजिक एवं धार्मिक कृत्य अपवित्र होता है।[2] इस प्रकार प्राचीन समय में स्त्री जीवन सम्मानित अवस्था में था। दण्डिकालीन समाज में भी स्त्री समाज की एक अङ्ग थी उनके बिना कोई भी कार्य सुचारु रूप से नहीं सम्पन्न हो पाता था। उन्हें अर्धाङ्गिनी का दर्जा प्राप्त था।

तत्कालीन स्त्रीसमाज पर प्रकाश डालते हुए 'बलराम श्रीवास्तव' ने लिखा है "समाज में स्त्रियों की दशा अच्छी थी। उन्हें आदर का स्थान प्राप्त था। उन्हें सम्पत्ति रखने का अधिकार था। सम्भ्रान्त वर्ग की स्त्रियाँ शिक्षित होती थी और पर्याप्त स्वतन्त्रता का उपभोग करती थी। दान–धर्म सम्बन्धी कार्यों के लिए वे स्वतन्त्र थी। बहुविवाह प्रचलित था, विशेषकर राजवर्ग में। पल्लवों का विभिन्न राजवंशों और सामन्त कन्यायों के साथ विवाह का विशेष राजनीतिक महत्त्व भी होता था। सती प्रथा प्रचलित थी।[3]

गणिकाएँ–

प्राचीनकाल से ही स्त्री समाज में गणिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वे अपने नृत्य, गीत, वाद्य आदि कलाओं द्वारा राजा, महाराजा एवं जन–सामान्य का मनोरञ्जन किया करती थी। 'हरिवंशपुराण' में इन्हें गणिका, वारबनिता एवं वेश्या कहा गया है। 'दण्डी' ने इन्हें रूपजीवा की संज्ञा दिये हैं।[4] प्राचीन समय में इनका निवास गाँव तथा नगरों दोनों में होता था। इनका सौन्दर्य अद्भुत होता था। वे अपने सौन्दर्य से ही लोगों को आकर्षित करती थी। 'दण्डी' ने अपनी कृतियों में गणिकाओं के वैविध्यपूर्ण जीवन का स्वाभाविक वर्णन किया है। यहाँ अनेक वेश्याओं का उल्लेख आया है लेकिन 'काममञ्जरी' और 'रागमञ्जरी' ही वेश्याओं में श्रेष्ठ थी। उनके सौन्दर्य की राज–दरबार में प्रशंसा होती थी। उनका जीवन त्यागमय था। वे धन की इच्छा नहीं रखती थी। 'रागमञ्जरी' स्वयं कहती है "मैं गुणशुल्का हूँ, धन शुल्का नहीं। मेरा मूल्य गुण होगा। धन पर नहीं बिकूंगी और मेरे साथ बिना विवाह किये कोई मेरे यौवन का उपयोग नहीं कर सकता।"[5] इस तथ्य से यह स्वतः सिद्ध हो जाता

---

1. ऋग्वेद, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1991, 10/85/46।
2. महाभारत, अनुशासन पर्व, परिमल पब्लिकेशन, देलही, 2001, 5/46।
3. चौधरी राममूर्ति, हरिवंश पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 1989, पृ. 106।
4. श्रीवास्तव बलराम, दक्षिण भारत, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1992, पृ. 282।
5. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छवास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 174 – "गुण शुल्काहम् न धन शुल्का। न च पाणिग्रहणाऽतेऽन्य भोग्यं यौवनम्"।

है कि गणिकाएं केवल नाच–गान करती थी।[1] उनका अन्य पुरुषों के साथ शारीरिक सम्बन्ध नहीं होता था। वे अपने लिए ऐसे पति का चुनाव करती थी जो गुणी हो। वे विवाह सम्बन्ध में धन को प्रमुखता नहीं देती थी। धन का आकर्षण गणिकाओं में बहुत देखा जाता है लेकिन 'रागमञ्जरी' धन की अभिलाषा से शून्य होकर गुणियों को अपना तारुण्य बेचने की इच्छा रखती है। 'मृच्छकटिक' में गणिका 'वसन्तसेना' का वर्णन आया है वह भी 'चारुदत्त' के गुणों पर ही मोहित है।'[2] 'दण्डी' ने तत्कालीन समाज में वेश्याओं को किन–किन बातों की शिक्षा दी जाती थी, इसका भी उल्लेख किया है। उन्हें नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य, चित्रकला, भोज्यपदार्थ, गन्ध, पुष्प आदि की कलाओं तथा पढ़ने-लिखने और बातचीत में निपुण किया जाता था, व्याकरण, तर्क और सिद्धान्त विद्या के ज्ञान के साथ द्यूत–कला की भी शिक्षा उन्हें दी जाती थी।'[3] इस प्रकार उन्हें सब प्रकार से पूर्ण कर दिया जाता था, वे सभी क्षेत्रों में अपना अधिकार रखती थी। 'काममञ्जरी' चम्पानगरी की अलङ्कार मानी जाती थी।[4] वह अपने गुणों से ही 'महर्षिमरीचि' को मोहित कर लेती है।[5] वह अपने पर इतना विश्वास रखती है कि किसी को भी अपना प्रेमी बना सकती है। इसी पर वह राजदरबार में बाजी लगाती थी।[6] 'काममञ्जरी' अति धन लोभी है। वह 'वसुपालित' के सम्पूर्ण धन की स्वामिनी बनकर उसे कौपीनावशेष कर देती है।[7] 'रमाशंकर त्रिपाठी' कहते हैं "'अपहारवर्मा' के प्रसंग में 'काममञ्जरी' नामक वेश्या 'मरीचि' नामक तापस को जिस विदग्धता एवं चतुरता से ठगती है वह देखने ही लायक है।"[8]

अतः गणिकाएँ समाज को अपने रूप और यौवन से आकर्षित कर उनसे धन का अपहरण कर लेती थी। "बाण' प्रथम बार जब हर्ष के राज दरबार में गया तो उसने हर्ष के राजमहल को गणिकाओं से भरा हुआ देखा, तत्कालीन राज समाज की

---

1. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छवास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 171।
2. मृच्छकटिकम् साहित्य भण्डार, मेरठ, 2001, पृ. 236 – "अहं श्री चारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी"।
3. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छवास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 133।
4. वही, पृ. 130।
5. वही, पृ. 147।
6. वही।
7. वही।
8. त्रिपाठी डॉ. रामशंकर, संस्कृत साहित्य का प्रामाणिक इतिहास, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1996, पृ. 25।

पूर्णता के लिए बार विलासिनियां आवश्यक अङ्ग थी।[1] इस प्रकार गणिकाएं प्राचीन समय से ही लोक–जीवन में अपनी पहचान रखती थी।

सतीप्रथा –

"प्राचीन भारतीय वाङ्मय में 'अन्वारोहण' (मृत पति के साथ चिता पर चढ़कर सहमरण (मृत पति की चिता के साथ जल कर मरना), सहगमन (मृत पति की चिता के साथ–साथ जाना) तथा अनुमरण (प्रवास में रह रहे पति की मृत्यु का समाचार मिलने पर प्राण त्याग करना) आदि शब्द सती (विधवा) के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं।"[2] सती–प्रथा का प्रभाव भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी प्रचलित था। "मिस्र के विश्वप्रसिद्ध पिरामिडों में वहाँ के राजाओं की मृत्यु के उपरान्त उनकी जीवित रानियाँ एवं परिचारिकाओं द्वारा प्राणोत्सर्ग करने तथा विविध उपयोगी एवं सुख–सम्पदाओं के साथ दफनाए जाने के पुरातात्विक प्रमाण अद्यावधि अवलोक्य हैं।"[3] वस्तुतः सती–प्रथा का संकेत तो 'ऋग्वेद', 'अथर्ववेद', रामायण आदि ग्रन्थों से भी प्राप्त होता है। लेकिन पांचवी शताब्दी से चौदहवी शताब्दी के बीच में इसका समाज में विशेष प्रभाव था। तत्कालीन साहित्यों में भी इसका व्यवहार देखने को मिलता है, 'महाकवि दण्डी' का समय लगभग आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। इन्होंने ने भी सती–प्रथा का उल्लेख किया है। रानी 'वसुमति' 'प्रचण्डवर्मा' के साथ युद्ध में राजा 'राजहंस' को वीरगति का अनुमान कर पति का अनुगमन करना चाहती हैं लेकिन मन्त्रियों द्वारा उन्हें ऐसा नहीं करने दिया जाता है।[4] 'रत्नोद्भव' की पत्नी 'सुवृत्ता' भी पति से सोलह वर्ष के वियोग को सहन करने पर भी जब उसे पति मिलन नही होता है तो वह आत्मदाह करना चाहती है लेकिन उसका पुत्र 'पुष्पोद्भव' उसे बचा लेता है।[5] 'चन्द्रापीड' के मृत शरीर को देखकर कादम्बरी भी अपने प्राणप्रिय का अनुगमन करना चाहती है वह महाश्वेता से कहती है "ऐसे समय पर मरना ही जीना है और जीना ही मरना है।"[6] 'प्रभाकरवर्धन' की मृत्यु से पहले रानी 'यशोवती' मरना चाहती है

---

1. अग्रवाल डॉ. वासुदेवशरण, हर्ष चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, विहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्, पटना, 1999, पृ. 147।
2. दुबे एच.एन., भारतीय संस्कृति एवं कला, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1999, पृ. 337।
3. वही, पृ. 337।
4. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 17।
5. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 65।
6. अग्रवाल वासुदेवशरण, कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1988, पृ. 305।

वे हर्ष से कहती है "मैं अविधवा ही मरना चाहती हूँ, आर्यपुत्र से विरहित हो जाना नहीं चाहती। हे पुत्र ऐसी अवस्था में मैं ही तुम्हें मनाती हूँ कि मेरे मनोरथ का विरोध कर मेरी कदर्थना मत करो"[1] आदि कहकर अन्त में वह सती हो जाती है। 'गृहवर्मा' के मरने पर 'हर्ष' की बहिन 'राज्यश्री' भी अग्नि में जलकर सती होना चाहती है लेकिन 'हर्ष' तत्क्षण पहुँच कर रोक लेता है।[2] इस प्रकार विदित होता है कि संस्कृतवाङ्मय में विना पति का स्त्रीसमाज जीवन जीने की कामना नहीं करता। उनके प्रेम की इतनी प्रकाष्ठा होती थी कि वे अपने प्रियतम सौभाग्य के बिना एक क्षण इस धरती पर रहना स्वीकार नहीं कर पाती थी हालांकि 'दण्डी' की रचनाओं में उन्हें समझा–बूझा कर रोक लिया जाता था लेकिन लोक में सती–प्रथा की विद्यमानता थी। अतः 'दण्डी' ने अपनी रचनाओं में दाम्पत्य के सही अर्थ को रखने का प्रयास किया है। राजपरिवार, जनसामान्य–परिवार, एवं बालिकाएं भी दाम्पत्य सम्बन्ध पर विश्वास रखने वाली थी।

पर्दाप्रथा –

पर्दाप्रथा से तात्पर्य स्त्री–समाज का पुरुष–समाज से अलग अनुशासन में रहना है। दण्डिकालीन समाज में पर्दा–प्रथा की परम्परा विद्यमान थी हालाकि इसे कोई कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं थी। राजघरानों तथा ऊँचें परिवारों की महिलाएं सामान्यतया जनता के सामने प्रकट नहीं होती थी। राजपरिवार में स्त्री–समाज के लिए एक अन्तःपुर की व्यवस्था होती थी जहाँ रानी, राजकुमारी, सहचरी एवं सेविकाओं आदि का निवास होता था।[3] अन्तःपुर के आयोजन में राजा के साथ अन्य लोग भी मर्यादित ढंग से सम्मिलित होते थे। इस प्रकार राजपरिवार में पर्दा–प्रथा का वर्णन देखने को मिलता है। जनसामान्य में पर्दा–प्रथा नहीं था। भिलनी एवं दासियाँ तथा अन्य लोगों की स्त्रियाँ बिना संकोच बाहर निकलती थी।[4] राजपरिवारों की स्त्रियाँ भी समय–समय से बाहर निकलती थी तथा अन्य पुरुष भी उनके सेवा में अन्तःपुर में रहते थे। राजपरिवार के सम्बन्ध में आया है कि "सेवक 'विहारभद्र' अन्तःपुर में रहता था। वह सामन्तों की स्त्रियों से रमण करता था। सामन्तगण भी कुमार्गी होकर निर्भीक भाव से अन्तःपुर की सुन्दरियों के साथ भोग–विलास करने लगे थे। कुछ ही दिनों में अन्तःपुर की

---

1. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, विहार–राष्ट्रभाषा–परिषद, पटना, 1999, पृ. 99।
2. वही, पृ. 201।
3. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 105।
4. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 344, 348, 351, 359।

सब महिलाएं चरित्रहीन होकर राजा को तृणवत भी न गिनकर उन धूर्तों के कथनानुसार आचरण करने लगी।"[1] अन्तःपुर के इस नग्न चित्र से स्पष्ट होता है कि सातवीं शताब्दी के अन्त में पर्दा–प्रथा लचीला हो गया था। तत्कालीन साहित्यों में स्त्रियाँ बड़ों के समक्ष मुँह ढ़क कर रखती थी। मृच्छकटिक में आया है कि जब 'वसन्तसेना' वधू के रूप में सामने आती है तो अपना मुँह ढ़क लेती है।[2] मुंह ढ़कना एक प्रकार की लज्जा है। स्त्रियाँ अपने बड़ों के सामने अपना ढका मुंह ही प्रस्तुत करती थी। आज भी नई नवेली दुल्हन अपने ससुराल में घुंघट रखती है। भास के सुप्रसिद्ध नाटक 'प्रतिमानाटक'[3] में सीता को मुंह पर पर्दा लगाये रंगमंच प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार उनके दूसरे नाटक 'स्वप्नवासवदत्त'[4] में महाराज 'उदयन' की पटरानी 'पद्मावती' के प्रसंग में पर्दा–प्रथा को इङ्गित किया गया है। बाण ने हर्षचरित[5] में राज्यश्री द्वारा अपने पति गृहवर्मा के सम्मुख उपस्थित होने पर पर्दा करने का वर्णन किया गया है। वस्तुतः कुँवारी कन्याओं के लिए हिन्दू समाज में प्राचीन काल में भी पर्दा–प्रथा का प्रचलन नहीं था। किन्तु विवाहोपरान्त वधू बनने पर ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में नारी को पर्दा में होना श्रेयस्कर माना जाने लगा था।

बहुपत्नी विवाह –

बहुपत्नी विवाह की प्रथा दण्डिकालीन समाज में विद्यमान थी। यद्यपि प्रजापत्य एवं एकपत्नी वरण की प्रथा समाज में प्रचलित थी। तत्कालीन साहित्य में अनेक स्त्रियाँ धार्मिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठा की केन्द्र थी। सम्भ्रान्त और धनवान् तो प्रायः सदा बहुपत्नीक ही हुआ करते थे। प्राचीन समय में एक राजा की अनेक रानियाँ हुआ करती थी। एक पति द्वारा त्याग दिये जाने पर स्त्रियों का पुनर्विवाह सम्भव था। 'दण्डी' की कृतियों में ऐसे कई स्थल प्राप्त होते हैं जहाँ बहुविवाह का उल्लेख आया है। 'मित्रगुप्त' की कथा में 'नितम्बवती' नामक स्त्री अपने पति द्वारा त्याग दिये जाने पर 'कलहकण्टक' नामक व्यक्ति से पुनर्विवाह करके सुखपूर्वक रहने लगती है।[6] पुरुषों

---

1. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 435–तदन्तःपरेषु चामी भिन्नवृत्तेषु मन्दत्रासो बहुसुखैरवर्तन्त। सर्वैश्च कुलाङ्गनाजनः सुलभभङ्गिभाषणरतो भग्नचरित्रयन्त्रणस्तृणायापि न गणयित्वा। भर्तृन्धातृगणमन्त्रजान्यश्रृणोत्।
2. मृच्छकटिकम्, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1993, अंक 10, पृ. 635।
3. प्रतिमानाटकम्, चौ.सं.सं., (भास नाटकचक्रम्) वाराणसी, भाग एक, 1998, पृ. 52।
4. स्वप्नवासवदत्तम्, चौ.ओ., वाराणसी, 1984, अंक षष्ठ, पृ. 306।
5. हर्षचरितम्, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1992, चतुर्थोच्छ्वास, अंक 6, पृ. 434।
6. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छवास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 435।

का भी अनेक विवाह होता था। 'कामपाल' की कान्तिमति एवं तारावली दो पत्नियाँ थी।[1] 'अपहारवर्मा' 'रागमञ्जरी' तथा राजकन्या 'अम्बालिका' दोनों को पत्नी रूप में ग्रहण किया था।[2] 'रत्नावली' में 'उदयन' वासवदत्ता के रहने पर भी 'रत्नावली' से विवाह करता है।[3] चारुदत्त भी अपनी प्रेमिका 'वसन्तसेना' से विवाह करता है।[4] इस प्रकार प्राचीनसमय से ही बहुपत्नी प्रथा 'विवाह' रूप में प्रचलित थी।

❑❑❑

1. तिवारी डॉ. काशीनाथ, आचार्य दण्डी की साहित्य साधना, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1998, पृ. 89।
2. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 207, 211।
3. रत्नावली, कृ.दा.अ., 1995, वाराणसी, 21/4।
4. मृच्छकटिकम्, भा.वि.प्र., दिल्ली, 1993, अंक 10, पृ. 635

अध्याय-३

धर्म-दर्शन

जिस धर्म के अन्तर्गत मनुष्य अपना जीवन परिपालित करता है, उसी धर्म का अनुयायी माना जाता है। वास्तव में धर्म उन सिद्धान्तों, तत्त्वों और जीवन-प्रणाली को कहा जाता है जिससे मानवजाति परमात्म-प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके, साथ ही मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर शान्ति व सुख का अनुभव करे। धर्म एक मानसिक क्रिया है। जिससे मनुष्य की बुद्धि, भावना तथा इच्छाशक्ति प्रकट होती है। वैयक्तिक दृष्टि से धर्म में विश्वास और आस्था तथा प्रेम आन्तरिक तत्त्वों के रूप में काम करते है और धार्मिक क्रियाएं तथा पूजा-पाठ संस्कार, उत्सव, कर्मकाण्ड आदि बाह्य तत्त्वों के रूप में हैं। धर्म का ही एक रूप दर्शन है। धर्म और दर्शन में पूर्ण समन्वय है। वे अलग-अलग होकर भी एक हैं और एक होकर भी अलग हैं। दोनों में कहीं कोई द्वन्द या दुविधा नहीं है।[1] धर्म और दर्शन एक सम्पृक्त स्थिति है। आर्यावर्त में अनेकों ऋषियों के वैदिक मन्त्रों से ही दर्शन का आविर्भाव हुआ है। भारत में पनपे सांख्य, योग या जैन, बौद्ध सभी को किसी न किसी रूप में वैदिक ऋषियों के मन्त्रों से ही प्रेरणा मिली है। अतः धर्म और दर्शन एक हैं। दोनों का अभिप्राय भी एक है। धर्म एवं दर्शन के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करते हुए ए.एन. व्हाटहेड कहते हैं- "दर्शन का उद्देश्य है परमसत्य का ज्ञान प्राप्त करना, जबकि धर्म का उद्देश्य है आध्यात्मिक मूल्यों को भावनात्मक ढंग से स्वीकार करना है। दर्शन एक दृष्टि से विचारात्मक और बौद्धिक प्रयास है और धर्म व्यवहारात्मक है।'[2] वस्तुतः दर्शन केवल विचार पैदा करता है और धर्म जीवन को व्यवस्थित एवं नियमित करता है। दर्शन सन्देह, तर्क और बौद्धिकता के समस्त उपादानों को मापना चाहता है जबकि धर्म आस्था, विश्वास, श्रद्धा तथा भक्ति के उपकरणों से हृदय को स्नेह की उर्मियों से आच्छादित करता है। जीवन को सन्तुलित एवं सुचारु रूप से चलाने के लिए जिस प्रकार से श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय आवश्यक है, उसी प्रकार धर्म और दर्शन के लिए भावना और विचार दोनों ही आवश्यक हैं। मस्तिष्क और हृदय दोनों ही

---

1. गुप्त डॉ. नत्थूलाल 'नवल', संस्कृति के सात सोपान, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 207।

दर्शन एवं धर्म के पर्याय हैं। अतः धर्म और दर्शन के परस्पर सहयोग से ही मानवजीवन का भाग्योदय सम्भव है।

प्राचीन काल से ही समाज की संरचना में धर्म–दर्शन का विशेष महत्त्व रहा है। विद्वानों एवं ऋषियों ने स्वविवेक के आधार पर धर्म की अनेक शाखाओं के रूप में दर्शन का विकास किया है। संस्कृतसाहित्य के प्रायः सभी लेखकों द्वारा ग्रन्थ के आरम्भ में या विषयवस्तु के प्रस्थापन में धार्मिक आस्था प्रकट होती है। लेखक द्वारा मङ्गलाचरण में व्यक्त धार्मिक आस्था तत्कालीन समाज में प्रचलित धार्मिक स्थिति का परिचायिक होता है। मंगलाचरण के आधार पर ही ग्रन्थकार के धार्मिकविश्वास का अनुमान हो जाता है। 'कविदण्डी' ने अपने दशकुमारचरितम् के मङ्गलाचरण में 'भगवान् विष्णु को महिमामण्डित किया है।'[1] 'काव्यादर्श' में 'सरस्वती को स्थापित किया है।'[2] लेकिन विषयवस्तु के वर्णन में वे शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि सभी से प्रभावित दिखलाई पड़ते हैं। फिर भी उनका विशेष आग्रह 'वैदिक सनातन धर्म की ही ओर दिखलाई पड़ता है।'[3] प्राचीन भारत में मौर्य वंश के पतन के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण घटना 'बौद्ध धर्म' का ह्रास और सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान है। ''जिस युग में बौद्ध और जैन धर्म भारतीय चिन्तन और संस्कृति को नया मोड़ दे रहे थे, उन्हीं दिनों बहुत से भक्ति प्रधान धर्म इसकी नवीन व्याख्याएं प्रस्तुत कर रहे थे। जिसमें शैव और वैष्णव धर्म प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने मानवता के सार्वभौम रूप को प्रकट किया और उसके सार्वजनिक मूल्यों को प्रोत्साहन दिया और साथ ही भारतीय धर्म–दर्शन की मौलिक मान्यताओं को अक्षुण्ण रखा।''[4] सातवीं शताब्दी में प्राचीन वैदिक धर्म का पुनर्जागरण होने के फलस्वरूप विष्णु एवं शिव जन–प्रिय देवता हो गये थे। संसार की सत्ता एवं विनाश के कारण दोनों देवता विशेष रूप से पूज्यमान थे। वैसे प्राचीन समाज में ब्रह्मा, विष्णु और महेश त्रिमूर्ति के भी साक्ष्य मिलते हैं लेकिन ब्रह्मा, शिव और विष्णु की तुलना में गौण दृष्टिगोचर होते हैं। कवि दण्डी ने भी शिव और विष्णु की तो अपनी कृतियों में गुणगान किया है लेकिन ब्रह्मा का केवल नाम मात्र का ही उल्लेख किया है। उनकी कृतियों के अध्ययन एवं विश्लेषण से ऐसा प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज में विष्णु, शिव, सरस्वती, ब्रह्मा, गणेश, दुर्गा, सूर्य, यक्ष, नाग आदि देवता मुख्य रूप से पूज्यमान थे तथा साथ ही साथ जैन एवं बौद्ध धर्म के अनुयायी समाज के पथप्रदर्शक के रूप में मिलते हैं। विभिन्न धर्मों के

1. दशकुमारचरितम्, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, मंगलाचरण।
2. काव्यादर्श, चौ.वि.भि. 1984, श्लो. 1–1।
3. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 152।
4. प्रकाश बुद्ध, भारतीय धर्म एवं संस्कृति, मीनाक्षी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988, पृ. 721।

अनुयायियों को अपने धार्मिकविश्वास पूजा–उपासना तथा अनुष्ठान आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। अतः शैव, वैष्णव, जैन और बौद्ध धर्म आदि की दण्डिकालीन समाज में क्या स्थिति थी, इसी का अध्ययन क्रमशः किया जा रहा है–

शैवधर्म –

हिन्दू त्रिदेववाद में शिव का स्थान अतिमहत्त्वपूर्ण है। 'मार्शल' के अनुसार "शिव को सर्वप्रथम मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक मुहर पर विविध पशुओं से परिवृत्त श्रृङ्गधारी, पशुपति के रूप में अङ्कित किया गया है। वैदिक वाङ्मय में शिव को 'रुद्र' के नाम से अनेकत्र वर्णित किया गया है।[1] इसीलिए शैवधर्म को सर्व प्राचीन लोक–धर्म माना जाता है। 'नव–पाषाण' युग की बहुत सी जातियाँ जो कृषि से सम्बन्ध रखने वाली थी वे रीति–रिवाज के क्रम में शिव से प्रभावित दिखलाई पड़ती हैं शिव विशेष रूप से पृथ्वी की उर्वरता बढ़ाने के लिए पूजा को प्रोत्साहित किया गया है। "गुडिमल्लम और भीटा से ऐसे लिङ्ग मिले है जिन पर देवता की मनुष्याकृति भी अङ्कित की गयी है।"[2] इस मत के अनेक सङ्केत प्राचीन भारतीय साहित्यों में यत्र–तत्र मिलते हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी में कुषाण–वंशी राजा शैवमतावलम्बी भी थे। शक, हूण भी शिव के ही प्रतिष्ठापक थे। इस प्रकार शैव–धर्म उत्तरोत्तर सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैला हुआ था। दक्षिणभारत में भी इसका प्रभाव अत्यधिक परिलक्षित होता है "दक्षिण में म्यांमारी सन्तों के प्रभाव से और पल्लव तथा चोल सम्राटों के प्रोत्साहन द्वारा शैवधर्म की विशेष प्रगति हुई। दक्षिण में 12वीं शताब्दी में वीर शैव या लिङ्गायत धर्म का उत्थान हुआ। इसमें शिव–लिङ्ग की पूजा का विधान है। अनेक शैव मन्दिर छठीं से बारहवीं शताब्दी तक के काल में बने। '8वीं से 12वीं शताब्दी के बीच काश्मीर में दार्शनिक शैव धर्म का उदय हुआ जिसमें शाक्त तांत्रिकधर्म के तत्त्व अधिक थे।'[3]

'आचार्यदण्डी' जिस युग के विभूति है वह शैवधर्म एवं दर्शन का ही प्रमुख काल था। 'काञ्ची' के जिन पल्लवनरेशों के आश्रय में रहकर दण्डी साहित्य–साधना किये वे शैव थे तथा शैवधर्म के प्रचारक भी थे। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में 'महाकवि-भारवि को शिव का महान् भक्त व महाशैव बताया गया है।'[4] शैवधर्म की मान्यता

---

1. दूबे एच.एन., भारतीय संस्कृति एवं कला, शारदा पुस्तक मन्दिर, इलाहाबाद, 1999, पृ. 333।
2. प्रकाश बुद्ध, भारतीय धर्म और संस्कृति, मीनाक्षी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988, पृ. 72।
3. सिंह एवं यादव, प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1988, पृ. संस्कृति, 182–183।
4. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1924, पृ. 10 – यतः कौशिककुमारो महाशैवं महाप्रभावं गवां प्रभव प्रदीप्तमणसं भारविं रविमिवेन्दुरनुह्यप्यदर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्।

के अनुसार भगवान शिव सभी देवताओं में महान् एवं बलशाली देवता हैं। 'काव्यादर्श' में 'शिव' की छवि का वर्णन करते हुए 'कविदण्डी' स्वयं लिखते हैं कि "कण्ठ में नीली छवि, हाथ में भिक्षा का कपाल, शीश पर चन्द्रमा लिये तावें के रंग की चिकनी जटाओं से युक्त, वृष केतु शिव प्रकट हुए।"[1] आगे उन्होंने शिव के अष्ट रूपों का बड़ा ही विनीत भाव से उल्लेख किया है। चन्द्रमा, सूर्य, वायु, पृथ्वी, आकाश, यजमान, अनल और जल इन आठ रूपों का अचानक दर्शन करने वाले कौन होते हैं? हमें इन मूर्तियों से ही आपके दर्शन का अवसर मिला है। आपने जो मुझे प्रत्यक्ष दर्शन दिया, वह आपका अनुग्रह है।[2] 'दशकुमारचरित' में शिव को त्रयम्बक कहा गया है। त्रयम्बक का अर्थ है तीन नेत्रों वाला। इनका तीसरा नेत्र ललाट पर स्थित है जो अद्वितीय दिव्यदृष्टि वाला है। शिव का मुख्य अस्त्र पिनाक है। शिव का निवास स्थान 'कैलाशपर्वत' पर माना जाता है इसी लिये 'दण्डी' की रचनाओं में शिव की तपस्या 'कैलाशपर्वत' पर करने की परम्परा दृष्टिगोचर होती है।'[3] भगवान् शिव सृष्टि-प्रलय के समय ताण्डव नृत्य करते हैं। 'वे क्रोधी के साथ-साथ परम दयालू हैं। अपने भक्तों को पुत्रवत मानते हैं तथा अपने भक्तों की विजय कामना के साथ-साथ गदा भी देने वाले हैं।'[4] 'शिप्रानदी' के पावन तट पर बसी 'महाकाल' की नगरी 'उज्जयिनी' नगरी शैवधर्म की प्रधान पीठ-स्थली थी।"[5] यहाँ का 'महाकाल-मन्दिर' 'कालिदास' के काल से ही जन-सामान्य की भावनाओं को आकृष्ट करता चला आ रहा है। अतिप्राचीन काल की भाँति 'दण्डी' के युग में भी 'उज्जयिनी' शिक्षा की सुविख्यात केन्द्रस्थली थी। यहाँ सुदूरदेशों से आकर शिक्षार्थी शिक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को धन्य बनाते थे। 'श्रावस्तीनगरी' में भी त्रयम्बक का आकर्षण दिखलाई पड़ता है। 'काशी' में 'विश्वनाथ' का उल्लेख कर'[6] कवि ने शैव धर्म के व्यापकता की ओर संकेत किया है। इस प्रकार दण्डी ने दक्षिण के पल्लव राजा सहित उत्तर-भारत के समस्त क्षेत्रों में शैवधर्म का उल्लेख किया है।

पौराणिक आख्यानों के आधार पर ही अष्टविधियों से उनकी दण्डिकालीन समाज में पूजा की जाती थी। जङ्गलवासी शिव के पूजन में तन्मयता रखने वाले थे। समाज

---

1. काव्यादर्श, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1984, 2-12
2. वही, 2-278
3. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपपीठिका, पृ. 15, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र, वाराणसी, 2004, पृ. 113।
4. वही, पृ. 14।
5. वही, पञ्चमोच्छ्वास, पृ. 80।
6. वही, पृ. 257।

के सभी वर्ग में 'शिव' की विश्वसनीयता विद्यमान थी। गुप्तवंश के अधिकांश राजा वैष्णवधर्म के उपासक होने पर भी शैवधर्म का आदर और सम्मान करते थे। इस प्रकार शैवधर्म की निरन्तरता का मार्ग अवरुद्ध नहीं हो सका। भारवि भी 'किरातार्जुनीयम्' में अर्जुन और किरात वेशधारी शिव के युद्ध का वर्णन किया है। 'वायुपुराण' और 'मत्स्यपुराण' में शिव की महिमा तथा पूजन का विशद वर्णन किया गया है। गुप्तकाल में शैवधर्म का परिवर्धित रूप ही दण्डिकालीन समाज में शैव का स्थान निर्धारित करता है। 'दण्डी' की कृतियों में आये शैव स्थानों एवं अनुयायियों से विदित होता है कि तत्कालीन समाज में शैवधर्म का स्थान अतिमहत्त्वपूर्ण था।

वैष्णवधर्म –

वैष्णव–धर्म के प्रमुख उपास्य देव 'विष्णु' हैं। 'विष्णु के अनुयायीगण भागवत अथवा वैष्णव कहे जाते हैं।'[1] पुराणों में ऐसे अनेकों आख्यान आये हैं कि 'वेदों में जिसे ब्रह्मा, विष्णु का परमपद अथवा परमधाम कहकर सम्बोधित किया गया है, परमात्मा का वही स्वरूप भागवत है।'[2] वैष्णवधर्म को भागवत, पांचरात्र, वासुदेव एवं ऐकांतिक आदि नामों से अभिहित किया जाता है। 'गुप्तकाल' में भी इन्हीं नामों से विष्णु को अभिहित किया गया है। ''षष्ठ–शतक से नवम्–शतक के मध्य दक्षिण में आलवरों सन्तों ने भी भक्ति आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। 'भक्ति को सार्वजनिक रूप में घर–घर पहुँचाने का श्रेय इन्हीं दक्षिण आलवर–भक्तों को ही है।'[3] वैदिक युगीन विष्णु जो केवल प्राकृतिक दिव्यशक्ति के प्रतीक थे वे ही सातवीं शताब्दी में सर्वशक्तिमान देवता के स्वरूप में अवतीर्ण हो गये थे। वैष्णव सम्प्रदाय का तत्कालीन समाज में लोकप्रियता बढ़ रही थी। उच्च एवं मध्यवर्गीय समाज में अन्य धर्मों की तुलना में वैष्णव–धर्म विशेष रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था। गुप्त राजाओं का इस धर्म के प्रति विशेष लगाव था। अतः इसे बढ़ने में देर न लगी और धीरे–धीरे पल्लवनरेश सहित दक्षिणभारत के अन्य राजाओं ने इस धर्म को मानने लगे, फलस्वरूप इसकी व्यापकता सम्पूर्ण भारत में फैल गयी। दण्डी अपनी अनुपम कृति 'दशकुमारचरित' का प्रारम्भ विष्णु के मङ्गलाचरण से ही करते हैं।[4] वैष्णवधर्म के प्रमुख देवता विष्णु

1. पद्मपुराण, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1893–94, उत्तर खण्ड – सर्वदेवान्परित्यज्ये नित्यं भगवदाश्रयः। रतस्तदीयसेवायाः स भागवत उच्यते।।
2. विष्णुपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, 2063, 6/5/71–72, नारदपुराण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2003, 1/46/11–15, अग्निपुराण 379–99।
3. सिंह एवं यादव, प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1988, पृ. संस्कृति 188।
4. दशकुमारचरितम् प्रथमोच्छ्वास पूर्वपीठिका चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी 2004 मङ्गलाचरण।

सभी जीवों को पालन करने वाले हैं। इनको विश्वमूर्ति माना जाता है। विष्णु को पालनकर्त्ता माना जाता है। लक्ष्मी इनकी सहधर्मिणी हैं इनके साथ विष्णु अनन्त समुद्र में शेषनाग के ऊपर विराजते हैं। विष्णु की सवारी गरुण है, यद्यपि उनके चार हाथों का उल्लेख मिलता है लेकिन आचार्य दण्डी ने इसका उल्लेख नहीं किया है। 'सम्पूर्ण लोक का एक मात्र वे ही कारण हैं।'[1] 'काव्यादर्श' के अनेक स्थलों पर विष्णु की महिमा का गान किया गया है।[2] 'अवन्तिसुन्दरी' में भी 'विष्णु को उपास्य रूप में प्रतिष्ठित किया है।'[3] इस प्रकार दण्डी की कृतियों में विष्णुमहात्म्य को देखकर निःसन्देह कहा जा सकता है स्वयं दण्डी वैष्णवधर्म के अनुयायी थे और तत्कालीन समाज में वैष्णवधर्म का प्रभाव अत्यधिक था। दण्डी को शैव होने की कल्पना का खण्डन करते हुए 'धर्मेन्द्र कुमार गुप्त' लिखते हैं कि "दण्डी ब्राह्मणधर्म का था एवं विष्णु का उपासक था। शैवमत के प्रति भी उनकी रचनाओं में जहाँ-तहाँ आदर भाव प्रकट होता है इसका कारण सम्भवतः यह था कि 'उसके आश्रयदाता राजनसिंह शैव थे।'[4]

जैनधर्म–

उत्तरवैदिककालीन समाज में यज्ञीय परम्परा के शख्त एवं शुष्क रीति-रिवाज के विरोध में अनेक आवाजें उठने लगी। लोग वर्णाश्रम-व्यवस्था की आलोचना करने लगे। देवताओं और ऋषियों की चर्चा छोड़ लोग क्षत्रियों, व्यापारियों और शूद्रों की बात करने लगे और यज्ञ-याग के स्थान पर संसार के दुःखों और अंहिसापरक सदाचार से उन्हें दूर करने के उपायों पर ध्यान देने लगे। अपनी श्रेष्ठता अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने नयी-नयी क्रियाविधियों को जन्म देना प्रारम्भ कर दिया। इस परिस्थिति में बहुत से मत और सम्प्रदाय सामने आए। जिसमें जैनधर्म का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

जैनधर्म एक प्राचीन धर्म है। इसका सर्वाधिक प्रचार-प्रसार महावीर स्वामी के जीवन काल में हुआ। छठींशताब्दी ई.पू. में भारत के अधिकांश नृपतिगण जैनधर्म को मानने वाले थे। मौर्य सम्राट 'चन्द्रगुप्तमौर्य' जैनी बनकर राज्य-कर्म छोड़ 'श्रवणवेलगोला' में निवास करने लगा। "जैनधर्म के प्रसार में सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति का विशेष उल्लेखनीय स्थान है, जिसने जैन आचार्य सुहस्ती के संरक्षण में दक्षिण भारत के

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 12 – नारायणं सकललोकैककारणं निरन्तरमर्चयामास।
2. काव्यादर्श, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1984, 2/81, 277, 3/28, 47
3. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 14 – मालेन पुनरपि मधुकैटभदानवाभिपतन-शङ्कानिरुत्यमादिशेव शेषेणोह्यमानं योगनिद्रामन्थरमुकुलितेक्षणप्रभावप्रवाहेण नाभिरन्ध्रमुक्तेनाश्चर्य- सहस्रपत्रेणानुगृह्यमाणकमलासनं भगवन्तमुत्फुल्लेन चक्षुषैक्षत।
4. गुप्त धर्मेन्द्र कुमार, काव्यादर्श, मे.च.ल.दा. दिल्ली, 1973, पृ0 भूमिका – 39।

अधिकांश प्रदेशों में इस धर्म को प्रसारित करवाया था। ई.पू. द्वितीय शताब्दी में कलि नृपति खारवेल ने जैनधर्म को स्वीकार कर उसके उन्नयन हेतु उदयगिरी में जैन–विहार की स्थापना करवाया था।"[1] उज्जैन का शासक गर्दभिल्ल ने मालवा एवं उज्जैन में इस धर्म को विशेष प्रश्रय दिया। लेकिन कालान्तर प्रथमशताब्दी में जैनधर्म का विस्तार सम्पूर्ण भारत से घटने लगा, विशेष रूप से दक्षिण भारत में तो इसका महत्त्व एकदम न्यून हो गया। इस प्रकार दण्डिकालीन समाज में जैन धर्म की अवनति हो चुकी थी फिर भी तत्कालीन साहित्यों में उसका प्रभाव था।

'दशकुमारचरित' में 'विरुपक' नामक 'जैनधर्मावलम्बी का बड़ा ही स्वाभाविक प्रसंग आया है।'[2] वह एक वेश्या द्वारा ठगा जाता है। समाज में अपमानित होने से बचने के लिए वह जैनधर्म ग्रहण कर लेता है। उसे एक जैनी ने जैनधर्म का उपदेश देकर उसे जैन धर्मपालनार्थ प्रवृत्त कर दिया। विरुपक के शरीर पर अत्यधिक मैल जम गयी थी। वह केशों की लटे वध जाने के कारण अति पीड़ा का अनुभव कर रहा था। वह भूख–प्यास की असह्य वेदना को सहन करते हुए कमजोर हो चुका था। जैनधर्म के आडम्बर से वह ऊब गया रहता है। स्वयं वह कहता है "मेरा इस तरह पाखण्ड पथ पर आना स्वधर्म त्याग ही है। मेरे पूर्वज श्रुति, स्मृति विहित धर्मपथ पर चलते थे लेकिन मुझ अभागे ने इस निन्द्य वेष और अतिशय दुःखदायी जीवन को अपनाया है। विष्णु, शिव और ब्रह्मा आदि देवता की निन्दा निरन्तर सुनते रहने के कारण यद्यपि मुझे नरकफल प्राप्त हुआ है फिर भी इस असार और जुआ चोरी से भरे अधर्म–मार्ग को मैने धर्म की भांति मान रखा है।"[3] वह यही सब सोचकर एकान्त में रो रहा था। अतः जैनधर्म तत्कालीन समाज में आदरविहीन आडम्बर मात्र ज्ञात होता है। 'दण्डी' ने जैनधर्मावलम्बियों के जीवन–यापन में होने वाली कठिनाइयों एवं उनके मार्ग की असारता को प्रदर्शित किया है। वहाँ मनुष्य जैनधर्म के कड़ा अनुशासन से पीड़ित दिखलाई पड़ता है।

---

1. दूबे एच.एन., भारतीय संस्कृति एवं कला, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1999, पृ. 364।
2. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 151।
3. वही, पृ. 152–53 – अहमस्मि द्विजातिः। अस्वधर्मो ममैष पाषण्डपथावतारः। श्रुतिस्मृतिविहितेनैव वर्त्मना मम पूर्वजाः प्रावर्तन्त। मम तु मन्दभाग्यस्य निन्द्यवेषममन्ददुःखायतनं हरिहरहिरण्य-गर्भादिदेवतापवाद– श्रवणनैरन्तर्यात्प्रेत्यापि निरयफलम् अफलं विप्रलम्भप्रायमीदृशमिदमधमवर्त्म धर्मवत्समाचरणीयमासीत्।

बौद्धधर्म –

बौद्धधर्म भी ब्राह्मणधर्म के असन्तोष से उपजा धर्म है। कर्मकाण्ड के चर्मोत्कर्षता से सामान्य जन-जीवन व्यथित हो गया था। समाज एक ऐसा धर्म चाहता था जिसमें अंहिसा, तप और संयम से परमार्थ की प्राप्ति हो। इसी समय गौतमबुद्ध अपने ज्ञान चक्षु.के आलोक से एक ऐसे धर्म का उपदेश दिये जो सर्वजन हिताय बहुजन सुखाय था, जिसे बौद्धधर्म कहा जाने लगा। "गौतम बुद्ध विश्व के महान विचारकों में से हैं, उनका धर्म विश्व का क्रान्तिकारी धर्म है। इस धर्म ने ई.पू. षष्ठ शतक में क्रान्ति की जो प्रेरणा दी, वह महान थी उसका धर्म महान था, इस धर्म ने विश्व को प्रभावित किया और विश्व को शान्ति का उपदेश दिया।'[1] बौद्धधर्म से प्रभावित होकर मगध और कौशल राज्य इस धर्म के प्रचार में अपूर्व योगदान दिया था। गौतमबुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद भी अनेकों राजवंशों ने बौद्धधर्म को प्रोत्साहित किये। सम्राट अशोक (274 से 224 ई.पू.) सम्राट कनिष्क (78 से 103ई.) हर्षवर्धन (606 से 647ई.) तथा पालवंशीय राजाओं के अतिरिक्त अन्य बहुत से राजाओं ने बौद्धधर्म का स्वागत किया। इन राजाओं ने अपने-अपने राज्यों में अनेक विहार, चैत्य तथा स्तूप निर्मित किये। भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी इसका प्रचार-प्रसार राजाओं के सहयोग से किया गया। फलस्वरूप यह धर्म विश्वव्यापी धर्म बन गया। चीन, जापान, लङ्का आदि देशों के निवासी इस धर्म के अनुयायी बनकर इसे विश्वधर्म की श्रेणी तक पहुँचा दिया था, लेकिन धीरे-धीरे इसका ह्रास होता गया और दण्डी के समय तक आते-आते यह नाम मात्र का धर्म रह गया था फिर भी काँची विद्या का एक महान केन्द्र होने के कारण बौद्धाचार्य 'धर्मपाल' ने काञ्ची में रहकर विद्यार्जन किया था। 'युवानच्वा' के विवरण से ज्ञात होता है कि "काञ्चीपुरम् के संघाराम में 10,000 भिक्षु रहते थे।"[2] दण्डी की कृतियों में भी अनेक भिक्षु-भिक्षुणियों के मठों का सङ्केत मिलता है। "उज्जयिनी में 'कलहकण्टक' एक बौद्धसन्यासिनी को कफन आदि देकर अनुकूल कर लेता है और एकान्त में 'नितम्बवती' के प्रति सन्देश कहलवाता है परन्तु उस 'नितम्बवती' ने उस सन्यासिनी को कड़ा फटकार लगाती है।"[3] 'कलहकण्टक' पुनः सन्यासिनी को सीखा-पढ़ाकर सफाई देने के लिए भेजता है कि जाकर उससे कहना कि "मैं तो तेरी परीक्षा ले रही थी। तुम परीक्षा में सफल हो। तुम सच्चरित्रा

---

1. सिंह एवं यादव, प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1988, पृ. संस्कृति 210।
2. श्रीवास्तव डॉ. बलराम, दक्षिण भारत, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1992, पृ. 286।
3. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 368।

हो। लेकिन तुम्हें मैं पुत्रवती देखना चाहती हूँ, आदि बातों से बहला-फुसलाकर नितम्बवती रात्रि में श्मशान पर जाने के लिए उसे तैयार कर लेती है।''[1] इस प्रकार बौद्धसन्यासिनी का इसी कार्य से तत्कालीन बौद्धधर्म के विषय में कुछ जानने को शेष नहीं रह जाता।

बौद्धधर्म केवल आडम्बर का एक विशाल वितान था जिसके ओट में अनेक अनैतिक एवं घृणित कार्य किये जाते थे। 'ह्वेनसांग' भी दक्षिणभारत में बौद्ध धर्म के तेजी से ह्रास होने की बात कही है। 'बलदेव उपाध्याय' लिखते हैं ''बौद्ध धर्मावलम्बिनी शाक्य भिक्षुणियाँ विवाह कार्य के लिए दौत्यकार्य किया करती थी – जो उनकी सामाजिक हीनता का विशेष परिचायक है।''[2] तत्कालीन अन्य अभिलेखों से भी बौद्धधर्म के प्रति जनता की अरुचि प्रकट होती है। 'दण्डी' की रचनाओं में बौद्धधर्म के हीनयान और महायान के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती है।

चीनी-यात्री 'ह्वेनसांग' तथा 'इत्सिंग' द्वारा सातवीं शताब्दी में बौद्ध एवं जैनधर्म को समृद्ध एवं जन प्रचलित बताया जाना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है क्योंकि तत्कालीन अभिलेखों से इस तथ्य की पुष्टि नहीं हो पाती है। 'दशकुमारचरित', 'मृच्छकटिक', 'हर्षचरित', 'कादम्बरी' तथा अन्य तत्कालीन साहित्य से बौद्ध एवं जैन धर्म की दीनावस्था परिलक्षित होती है। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय नवीन वैदिक धर्म के अनुयायियों की संख्या पर्याप्त थी।

❑❑❑

---

1. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 370।
2. उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1992, पृ. 405।

अध्याय-४

सांस्कृतिक-जीवन

मनुष्य के बहुविध क्रिया-कलापों को सांस्कृतिक-जीवन के अन्तर्गत व्यक्त किया जा सकता है। सांस्कृतिक-जीवन से सम्पूर्ण जीवन प्रणाली का बोध होता है जिससे मनुष्य उल्लास पूर्ण वातावरण का निर्माण करता है। खान-पान, वस्त्राभूषण और रसन-सहन के साथ-साथ मनोरञ्जन के विविध साधन सांस्कृतिक जीवन के मूल इकाई माने जाते हैं। कवि दण्डी ने अपने कृतियों में सांस्कृतिक-जीवन के विविध पक्षों का चित्रण हर्षपूर्ण वातावरण के लिए ही किया है। मानव जीवन सुख-दुःख के साथ-साथ आगे बढ़ता है। वह कभी प्रसन्नचित रहता है तो कभी क्लेश से पीड़ित। कभी सांस्कृतिक चिन्तन करता है तो कभी परमार्थ। मनुष्य के सांस्कृतिकचिन्तन में खान-पान, वस्त्राभूषण रहन-सहन तथा मनोरञ्जन का विशेष महत्त्व है। तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन का चित्रण इन्हीं उपागमों से व्यक्त हुआ है जिनका अध्ययन क्रमशः प्रस्तुत है।

खान-पान –

सामाजिक-जीवन पद्धति में खान–पान का विशेष महत्त्व है। मनुष्य आदिमानव युग से ही विविध प्रकार के भोजनों के प्रयोग से अपना जीवन–यापन करता चला आ रहा है। वह विविध प्रकार के अन्न, फल, शाक, मूल, कन्द, गन्ना, तेल, मसाले, दूध, घी, मांस, मछली, मदिरा आदि का सेवन कर अपने जीवन को पालित–पोषित करता है। भोजन सभी जीवधारियों की मूल–भूत आवश्यकता है। मनुष्य भी अपने जीवन रक्षा के लिए भोजन प्राप्ति के अनेक उपक्रम को करता है।

'दण्डिकालीन' समाज में खान–पान का वर्णन उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होती है। तत्कालीन समय में पाककला का यथेष्ट विकास हो चुका था। लोग पका एवं भूना दोनों प्रकार के भोजनों का सेवन करते थे। घर की वधू से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह उत्तमभोजन बनाने में प्रवीण हो। पाककला ही उस समय की उत्तम गृहिणी की परीक्षा थी। 'मित्रगुप्त' की कथा में 'शक्तिकुमार' एक युवती की पाककला की परीक्षा कर उससे विवाह करता है।[1] उत्तमस्वास्थ्य के लिए उत्तमभोजन की आवश्यकता होती है। वृद्धगणिका अपने कर्त्तव्य में पुत्री के लिए उत्तम भोजन का भी नाम लेती है जिससे उसकी पुत्री का शरीर आकर्षक लगे।[2] उत्तम आहार से ही

---

1. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 357।
2. वही, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 132।

रूप, रंग, उत्साह एवं बुद्धि का विकास होता है। लेखक ने अवन्तिसुन्दरी कथा में राजहंस के मध्याह्न भोजन को लेकर पांच बार भोजन करने का वर्णन मिलता है, लेकिन तत्कालीन व्यवस्था में सामान्य लोग तीन बार ही आहार ग्रहण करते थे।[1] समाज में भोजन सामग्री का अभाव नहीं था। कभी–कभी दुर्भिच्छ पड़ जाने पर भोजन संकट उत्पन्न हो जाता था।'[2] तत्कालीन समाज में निरामिष तथा सामिष दोनों प्रकार के खाद्य सामग्री का उल्लेख मिलता है।

'तण्डुल' या चावल 'दण्डिकालीन' समाज का लोकप्रिय आहार था। 'भागवतपुराण' में सम्प्राप्त होता है कि जल में तण्डुलों को डालकर उबाला जाता था जिससे वे अच्छी तरह से गल जाते थे[3] और इस प्रकार ओदन (भात) तैयार होता था जिसे दाल, सब्जी या मांस के साथ खाया जाता था। यहाँ 'कविदण्डी' के द्वारा चावल के साथ घी, दाल, शाकादि खाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[4] उस समय शाक, घृत, दही, तेल, आवला, इमली आदि भोजन की आवश्यक वस्तुएँ थी।[5] चावल से माड़ निकाल कर उसमें नमक मिलाया जाता था। पुनः उसे हींग, जीरे आदि से बघारा जाता था। बघारने के बाद उसमें आवलां को पीस कर मिला दिया जाता था जिससे वह पेय हो जाता था।[6] दूध में चावल शक्कर डालकर खीर बनाया जाता था। 'अपहारवर्मा' को श्रृंगालिका द्वारा खीर खिलाये जाने का उल्लेख मिलता है।[7] 'भागवतपुराण' में भी आया है "दुग्ध का प्रयोग पान के रूप में तो होता ही था साथ ही साथ उसमें शालि, ब्रीहि तथा अन्न आदि भी मिलाकर पकाया जाता था। पयस में पकाई वस्तु पायस कहलाती थी।[8] "मृच्छकटिक' में भोज्य सामग्री के रूप में कड़वा, खट्टामास, रोहू–मछली, दाल तथा अगहन में पैदा होने वाले धान के चावल से बने भात को गुड़ में मिलाकर खाने का भी उल्लेख उद्धृत है।[9] इस प्रकार चावल तत्कालीन समाज का मुख्य खाद्य पदार्थ था।

---

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 10।
2. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उतरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 341।
3. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 5/10/22।
4. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 355 – "ततस्तस्य शाल्योदनस्य दर्वीद्वयं दत्त्वा सर्पिमात्रां सूपमुपदंशं चोपजहार।"
5. वहीं, पृ. 354 – "एभिर्लब्धाः काकिणीर्दत्त्वाशाकं घृतं दधि तैलमामलकंचिञ्चाफलं च यथालाभमानाय।"
6. वहीं।
7. वही, द्वितीयोच्छ्वास, पृ. 206।
8. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 10/24/26।
9. मृच्छकटिकम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2001, 29/10।

तत्कालीन समाज में दुग्ध प्रिय पेय पदार्थ था जो स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत उत्तम होता था। यह मनुष्य के पौष्टिक आहारों में से एक माना जाता था। इससे दही, मट्ठा, नवनीत, घी आदि निर्मित किये जाते थे।[1] दण्डिकालीन समाज में दूध, दही, घी के साथ-साथ मट्ठा, भी उत्तम पेय था। कन्या 'शक्तिकुमार' को दही, शीतलकाञ्जी तथा मट्ठा आदि परोसती है।[2] तत्कालीन समाज में 'मद्यपान' का भी वर्णन आया है सेवक विहारभद्र मद्यपान की महत्ता बतलाते हुए कहता है 'इससे विविध प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं। मद्यों के सेवन से मनुष्य मनचाही अवस्था प्राप्त कर लेता है। मद्य से अहङ्कार बढ़ जाता है। इससे सभी प्रकार के क्लेश नष्ट हो जाते हैं। मदिरापान से वासनाएं उद्दीप्त होती हैं जिससे स्त्रियों के साथ सम्भोग करने की शक्ति प्रबल होती है। अनेकों अपराधों को क्षमा करने के कारण चित्त के उद्वेग दूर हो जाते हैं। गुप्त रहस्यों की इससे सूचना तथा व्यर्थ की वार्ता से विश्वास उत्पन्न करा देने की क्षमता आ जाती है। राग-द्वेष दूर हो जाने के कारण परमानन्द ही परमानन्द दिखायी पड़ता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि के अनुभव होते रहते हैं। शरीर की सुन्दरता भी असाधारणतया बढ़ जाती है। भोग-विलासों का सर्वोत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। युद्धकौशल आदि अनेक लाभ होते हैं।'[3]

मद्यपान का उल्लेख हमें 'ऋग्वेद' में भी प्राप्त होता है।[4] पौराणिक- साहित्यों में भी मदिरापान प्रचलित था। 'श्रीमद्भागवतपुराण' में इसे आसव कहा गया है।[5] यह स्वाद में मधुर होता है। मधुरता के लिए इसमें गुड़, शहद आदि का प्रयोग किया जाता था।

दण्डिकालीन समाज में पान खाने की परम्परा भी दृष्टिगोचर होती है। लोग अनेक अवसरों पर पान खाया करते थे। पान-गोष्ठी का आयोजन होता था।[6] ताम्बूल

---

1. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 246।
2. वहीं, षष्ठोच्छ्वास, पृ. 355।
4. वही, अष्टमोच्छ्वास, पृ. 432-33 - पानेऽपि नानाविधरोगभङ्गपटीयसामासवानामासेवनात्स्पृहणीयवयोव्यवस्थापनम्, अहंकारप्रकर्षादशेषदुःखतिरस्करणम्, अङ्गजरागदीपनादनोपभोगशक्तिसंधुक्षणम् अपराधप्रमार्जनान्मनः शल्योन्मार्जनम्, अश्राव्यशंसिभिरनर्गलप्रलापैर्विश्वासोपवृंहणम्, मत्सराननुबन्धादानन्दैकतानता, शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां सातत्येनानुभवः संविभागशीलतया सुहृद्वर्गसंवर्गणम्, अनुपमानमलावण्यम्, अनुत्तराणि विलसितानि, भयार्तिहरणाश्च साङ्ग्रामिकत्वमिति।
4. ऋग्वेद, चौ.वि.भ., 1991, 7/86/6।
5. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 5/1/33।
6. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ0 25।

वाटिकाएं होती थी।[1] पान प्रेम प्रकट करने का साधन माना जाता था। राजकुमारी 'अवन्तिसुन्दरी' 'राजवाहन' को पान भेजकर अपने अनुराग का निवेदन करती है।[2] 'कल्पसुन्दरी' से जब 'उपहारवर्मा' मिलने जाता है तो उसके शय्या पर पहले से ही चन्दन, पान, माला आदि रखा गया था।[3] 'दारुवर्मा' सुहागरात में जब बालचन्द्रिका से मिलने जाता है तो उसे कस्तूरी मिश्रित चन्दन, कर्पूर से सुवासित ताम्बूल भेंट करता है।[4] शृंगालिका राजकुमारी के रूप में सुगन्धित पान कान्तक के घर भेजती है।[5] इस प्रकार तत्कालीन समाज में पान का विशेष महत्त्व था। 'कादम्बरी' भी 'चन्द्रापीड' का आतिथ्य पान से ही करती है। 'वासुदेवशरण अग्रवाल' लिखते है "सखी कादम्बरी! नवागत अतिथि की आराधना हम सबका प्रथम कर्त्तव्य है, पहले इन्हें ताम्बूल दो! किंचित् लज्जा से मुँह फेरते हुए कादम्बरी ने कहा– प्रिय सखी, परिचय न होने से अभी इतनी प्रगल्भता दिखाने में मै शर्माती हूँ तुम ही इन्हें दे दो।"[6] इस प्रकार महाश्वेता के पुनः आग्रह पर कादम्बरी चन्द्रापीड को पान खिलाती है।

जङ्गलवासी लोग कन्द, मूल, फल आदि से अपना जीवन बिताते थे। जङ्गल में फल सुलभता से उपलब्ध हो जाते थे। विश्रुत ने बालक और वृद्धमन्त्री को बाणों और पत्थरों की सहायता से लकुचवृक्ष के पांच–छः फल तोड़कर खिलाया जिससे उनकी क्षुधा तृप्त हुई।[7] 'धन्यक' जब पत्नी के साथ जङ्गल में निवास कर रहा था तो उनका मुख्य आहार फल–फूल एवं कन्द–मूल ही था।[8] फलों में आम का विशेष महत्त्व था। राजवाहन की कथा में कवि ने आमों की स्वादिष्टता को इंगित करते हुए लिखा है 'मन्मथ आम्रमञ्जरियों का मधुर स्वाद लेकर लाल कण्ठ वाला हो गया है।'[9] 'महाकविभवभूति' ने जंगलवासियों के लिए मुट्ठीभर निवार को पकाकर खाने का उल्लेख किया है।[10] यह निवार फल विशेष ही होता था। 'दशकुमारचरित' में आया है कि

---

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 29।
2. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 98।
3. वहीं, तृतीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 236।
4. वहीं, चतुर्थोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 77।
5. वहीं, द्वितीयोच्छ्वास उत्तरपीठिका, पृ. 194ष्ट द
6. अग्रवाल वासुदेव शरण, कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1988, पृ. 197।
7. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 412।
8. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 343।
9. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ 2004, 25/1।
10. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 81।

नाविक ने स्वादिष्ट जल, काठ तथा कन्द–मूल, फलों को एकत्र कर के नाव से ले जा रहे हैं।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में कन्द–मूल, फल–फूल आदि मुख्य खाद्य पदार्थ थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में फलमिश्रित अर्घ्य से दुष्यन्त का स्वागत करने का उल्लेख मिलता है।[2] 'कादम्बरी' में भी 'महाश्वेता' 'चन्द्रापीड' का आतिथ्य फल आदि से ही करती है।[3] 'दण्डी' ने स्वयं के सम्बन्ध में भी लिखा है कि बाल्यकाल में अकाल पड़ गया था और शत्रु राजा ने आक्रमण कर दिया फलस्वरूप जनता भूखमरी की शिकार हो गयी। मुझे जल में निवास करना पड़ा जहाँ कन्द–मूल–फल आदि ही भोज्य सामग्री थी।[4] 'काव्यादर्श' में भी घास–फूस से जीवन बीताने का वर्णन किया गया है।[5] इस प्रकार जङ्गलीलता, फल, फूल, कन्दमूल आदि का प्रयोग भोजन के रूप में किया जाता था।

मांसाहार की परम्परा बहुत प्राचीनसमय से मिलती है। 'भागवतपुराण' में आया है कि 'इक्ष्वाकु' ने अपने पुत्र 'विकुक्षि' को श्राद्ध के लिए मांस का आदेश दिया।[6] 'भवभूति' ने धर्मशास्त्रों की दुहाई देकर विशिष्ट अतिथियों के लिए समांस मधुपर्क कथन किया है। इसके लिए बछड़े, बैल या बकरे को मार कर गृहस्थ पकाते थे।[7] दण्डिकालीन समाज में भी मांस भक्षण का उल्लेख मिलता है। 'प्रभाकरवर्मा' एवं वृद्धमन्त्रि की भूख को विश्रुत जङ्गल में हिरण के भूनी मांस से शान्त करता है।[8] 'दण्डी' ने दुर्भिक्ष का वर्णन करते हुए लिखा है कि सभी फसलें समाप्त हो गयी थी। चारों तरफ विरान हो गया था। घर की अन्न राशि भी समाप्त हो गयी थी। लोग भेड़ बकरे आदि को खा गये। भैंस–भैंसों, गाय एवं बछड़े सभी को खा गये। दास–दासियों तथा उनके बच्चों को खा गये अनन्तर अपनी–अपनी पत्नियों को खाना प्रारम्भ कर दिया।[9] धन्यक जङ्गल में मांस खाता और खिलाता है वह हिरण के लिये जंगल में भ्रमण करता है।[10] 'अवन्तिसुन्दरी' में भी आया है कि 'दामोदारस्वामी' ने

1. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 338।
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1991, श्लो. 25 से आगे – फलमिश्रमर्घमुपहर।
3. कादम्बरी, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1998, पृ. 637।
4. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 12।
5. काव्यादर्श, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1984, 2/341।
6. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2062, 9/6/6।
7. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, अंक चतुर्थ अंक, पृ. 298–99।
8. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 444।
9. वही, षष्ठोच्छ्वास उत्तरपीठिका, पृ. 342।
10. वही, पृ. 343।

महाराज 'विष्णुवर्धन' के आग्रह पर अपनी कुल परम्परा के विपरित मांस का सेवन किया था।[1] 'राजशेखर' ने श्रोत्रिय अतिथि के लिए बैल या बकरे के मांसीय आहार का समर्थन किया है।[2] कविमुरारि का कथन है कि यज्ञों से बत्सतरी के मांस से अतिथि का सत्कार होता है।[3] इस प्रकार मांस का सेवन प्राचीनसमय से ही समाज में प्रचलित था।

दण्डिकालीन समाज में शुद्ध जल का विशेष महत्त्व दिखलाया गया है। जल जीवन धारण के लिए अनिवार्य है। जल को सुलभ बनाने के लिए कुंआ, नदी, तालाब, आदि की व्यवस्था होती थी। 'विश्रुत' कुंआ से जल निकल कर बालक और वृद्धमन्त्रि की प्राण पिपासा को तृप्त करता है।[4] 'धन्यक' अपनी पत्नी से जल मांगता है तो उसकी पत्नी कुएं से जल निकाल कर पीने को कहती है।[5] जलाभिलाषी वणिक भी कुंए से जल निकालने गये थे तभी उसमें 'धन्यक' को गिरा हुआ पाया।[6] गोमिनी की कथा में 'शक्तिकुमार' को अगरू और पाटल कुसुमों से सुवासित शीतलजल नयेघड़े से निकाल कर पिलाने का वर्णन आया है।[7] इस प्रकार शुद्धजल का दण्डिकालीन समाज में विशेष महत्त्व था। जल पवित्रता का प्रतीक है। यह शरीर, मन और आत्मा को पवित्र करता है।

वस्त्राभूषण –

जब से मानव इस धराधाम पर अवतीर्ण हुआ तभी से अपने शरीर की सुरक्षा एवं सुन्दरता पर ध्यान देता रहा है। वह अपने शरीर की सुरक्षा अनेक परिधानों एवं अलङ्करणों से शरीर के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करता आया है। युगविशेष की वेश-भूषा सामाजिक प्रणाली का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कभी पशुओं के चमड़ों का वस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता रहा तो कभी सूती, रेशमी-वस्त्रों से मानव अपना शरीर ढकता था। संस्कृति के सर्वाङ्गीण अध्ययन के लिए तत्कालीन वेश-भूषा आदि का अध्ययन अपरिहार्य है। एक ओर जहाँ यह वेश-भूषा तत्कालीन संस्कृति की भौतिक उपलब्धियों का प्रतीक होता है तो वही दूसरी ओर यह उनके सौन्दर्य बोध का परिचायक भी है।

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 10।
2. बालरामायण, 1/8।
3. अनर्घराघव, चौ.सु.भा.प्र., वाराणसी, 1984, श्लो. 1/38।
4. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 412।
5. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 343।
6. वही।
7. वही, पृ. 356।

महाकवि दण्डी एक ऐसे समाज की परिकल्पना करते हैं जहाँ वेश–भूषा एवं आभूषण प्रियता की प्रधानता थी। 'डी.के. गुप्ता' का भी मानना है कि तत्कालीन समाज का परिधान एवं श्रृंगार के प्रति यथेष्ठ झुकाव था।[1] 'महाभारत' में भी वस्त्रों को विभिन्न अवसरों पर पहनने के उद्धरण प्राप्त होते हैं। जो सोने, खाने, मार्ग पर जाने तथा देवताओं की पूजा के समय वस्त्र बदलने की व्यवस्था में देखे जा सकते हैं।[2] प्राचीनभारतीय पुरुषों की वेश–भूषा में एक ऊपर का वस्त्र तथा एक नीचे का वस्त्र धोती होती थी।[3] स्त्रियाँ भी अनेक प्रकार के वस्त्र एवं अलङ्करण का उपयोग करती थी। स्त्रियाँ दो वस्त्र धारण करती थी एक अधः वस्त्र और दूसरा ऊपर का उत्तरीय। उत्तरीय वक्षःस्थल को ढ़कने के लिए होता था। राजकुमारियाँ चीनदेश की रेशमी साड़ी पहनती थी। आभूषणों के लिए वे केशों को पुष्पमालाओं से सजाती थी तथा कान में तमाल आदि वृक्षों के उपयुक्त किसलय भी धारण करती थी। तत्कालीन समाज में चन्दन का अंगराग लगाना सामान्य बात थी। शय्या पर फूलों की पंखुड़ियाँ बिखेर दी जाती थी।[4] समाज के अधिकांश लोग सूती तथा रेशमी वस्त्रों, बहुमूल्य आभूषणों एवं सुगन्धित अवलेपों का प्रयोग करते थे। लोग बिना सिले हुए वस्त्रों का भी उपयोग करते थे। 'राजवाहन' जब किरातब्राह्मण से मिलता है तो वह केवल जनेऊ धारण किया हुआ था तथा नीचे सम्भवतः वह अधोवस्त्र के रूप में धोती पहना था। राजवाहन के यहाँ जो एन्द्रजालिक आया था वह महीन तथा रङ्गीन वस्त्रधारी था तथा उसके कानों में मणिमय कुण्डल लटक रहे थे। वह वेश–भूषा भली प्रकार से धारण किया हुआ था।[5] 'अपहारवर्मा' जब राजवाहन से मिलता है तो उसके कमर में बघनखा लटक रहा था तथा रेशमी वस्त्र धारण किये हुए था।'[6] 'अपहारवर्मा' जब सेंध लगाने जाता है तो नीले रङ्ग का अर्धोरुक (लबादा) पहनता है।'[7] इस प्रकार 'दण्डिकालीन' समाज में बहुविध प्रकार के वस्त्र–आभूषण पुरुष वर्ग धारण करता था। युद्ध के समय कवच धारण किया जाता था।[8] जिससे युद्ध में शरीर की रक्षा हो सके। स्त्रियों के अनेक

1. गुप्ता डी.के. सोसाइटी एण्ड कल्चर इन द टाइम आफ दण्डिन, मे.च.ल.दा. देहली, 1972, पृ. 235।
2. महाभारत, अनुशासन पर्व, गीताप्रेस गोरखपुर, 1956, 104/86।
3. लुणिया बी.एन. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा–3, 1989–90, पृ. 175
4. त्रिपाठी जयशंकर, दण्डी, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1991, पृ. 84।
5. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीनिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 42।
6. वही, पृ. 100–1।
7. वही, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 125।
8. वही, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 156।

शृंगारिक एवं लेपन सामग्रियों का भी दण्डी ने उल्लेख किया है 'दारुवर्मा' जब बालचन्द्रिका से कामक्रीड़ा के निमित्त पहुंचता है तो बालचन्द्रिका और गुप्तवेश दासी के रूप में 'अपहारवर्मा' को अनेक प्रकार के आभूषण, महीनकपड़ा, कस्तूरी मिश्रित चन्दन, कर्पूर से सुवासित ताम्बूल, सुगन्धित पुष्प तथा इत्र आदि पदार्थ भेंट करता है।[1] स्त्रियाँ स्वच्छ एवं साफ कपड़ा पहनती थी। 'महर्षिमरीचि' के आश्रम में 'काममञ्जरी' धुले हुए केवल एक जोड़े कपड़े से काम चलाती थी।[2] 'काममञ्जरी' जब महर्षिमरीचि को कामोत्सव के लिए राजी कर लेती है तो राजा उस पर प्रसन्न होकर रत्नजड़ित अलङ्कार तथा अच्छे-अच्छे वस्त्रों को उपहार स्वरूप उसे प्रदान करता है।[3] युवतियां विविध प्रकार के आभूषण धारण करती थी। 'अपहारवर्मा' जब रात्रि में कुबेर दक्ष की पुत्री को देखता है तो वह विविध प्रकार के आभूषणों को धारण किये हुई थी।[4] 'शृंगालिका' एक बालिका द्वारा 'कान्तक' के घर सुगन्धित पान, रेशमी साड़ी, ओढ़नी आदि भिजवाती है।[5] 'अपहारवर्मा' जब राजकुमारी के शयनकक्ष में पहुंचता है तो राजकुमारी के शरीर पर चीनदेश का बारीक वस्त्र शोभायमान हो रहा था।[6] वह कानों में कुण्डल, गले में पद्मराग-मणिमाला धारण किये हुई थी।[7] 'वासुदेवशरणअग्रवाल' अंशुक के विषय में लिखते हैं "वांग के समय दुकूल के बाद सबसे अधिक अंशुक नामक वस्त्र का प्रचार था। अंशुक दो प्रकार का था। एक भारतीय तथा दूसरा चीनदेश से लाया हुआ जो चीनांशुक कहलाता था।[8] यह चीनदेश से आने वाला अतिमूल्यवान वस्त्र था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भी 'कालिदास' ने चीनांशुक का उल्लेख किया है।[9] दण्डिकालीन समाज में सफेद एवं नीले वस्त्रों का बड़ा महत्त्व था। प्रमति से जो अंगना सोये अवस्था में मिली थी वह दुग्ध के समान स्वच्छ साड़ी धारण की हुई थी।[10] वनदेवता के रूप में जो उससे वृद्धा मिलती है वह नीले वस्त्र एवं नीले वस्त्र की

---

1. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 77।
2. वही, पृ. 139।
3. वही, पृ. 146।
4. वही, पृ. 156।
5. वही, पृ. 194।
6. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 200।
7. वही, पृ. 201।
8. अग्रवाल वासुदेवशरण, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषा-परिषद्, पटना-4, 1999, पृ. 78।
9. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 34/1 – चीनांशुकमिवकेतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।
10. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 291।

बनी हुई चोली धारण किये हुये थी।[1] 'श्रीमद्भागवतपुराण' में चोली के लिए स्तनी शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] 'कालिदास' ने चोली के लिए 'कूर्पासक' शब्द का प्रयोग किया है।[3] स्त्रियाँ गला, कान, नाक के अतिरिक्त पैरों में भी अलङ्करण धारण करती थी। राजकुमारी 'कन्दुकावती' जब कन्दुक नृत्य कर रही थी तो उसके पैर के आभूषण ताल को स्पन्दित कर रहे थे।[4] स्त्रियाँ बालों की शौकीन होती थी। उनके कन्धों तक बाल होते थे।[5] वे रत्नजड़ितकरधनी धारण करती थी।[6] यह स्वर्ण और रजत की बनी होती थी। इसमें एक या अनेक लड़ियाँ होती थी। नाट्यशास्त्र में काञ्ची की मेखला को आठ, रशना को सोलह और कलाय को पच्चीस लड़ी वाली करधनी कहा गया है।[7] इस प्रकार दण्डिकालीन समाज वस्त्राभूषण प्रिय समाज था वे लोग अपने शरीर को स्वस्थ एवं सुन्दर लगने के लिए वस्त्राभूषण का उपयोग करते थे। वे सूती, रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों का बड़े प्रेम से उपयोग करते थे। सभी लोग सोना, चांदी, मोती आदि से बने अलङ्करणों को धारण करते थे। तत्कालीन समाज में अलंकार प्रियता स्त्रियों में अधिक दृष्टिगोचर होती थी।

रहनसहन –

दण्डिकालीन समाज सुविधाओं से सम्पन्न था। देश पर विदेशी आक्रमणों का भय नहीं था। जनता स्वतन्त्र रूप से अपने कार्य व्यापार में संलग्न रहती थी। आन्तरिक कलह केवल मान–प्रतिष्ठा के लिए होता था। अतिथियों के आगमन पर उनका यथोचित आदर–सत्कार किया जाता था। माता–पिता के आदेशों को पुत्र विनम्र भाव से पालन करता था। पिता सदैव पुत्र के कल्याण के लिए चिन्तित रहता था। दण्डिकालीन समाज में मित्रता का निर्वाह बहुत ही संघर्षपूर्ण स्थिति में भी किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। एक मित्र अपने मित्र की रक्षा अपने प्राण की बाजी लगाकर करने का साहस रखता है। मित्रों में किसी प्रकार का आपस में राग–द्वेष देखनें को नहीं मिलता है। सभी लोग एक दूसरे के हित में लगे हुए रहते हैं। राजा और सेवक का सम्बन्ध भी बहुत मधुर था। सेवक अपने स्वामी से व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों समस्याओं पर बात–चीत कर सकता था। दण्डिकालीन समाज में अबला की रक्षा की जाती थी,

---

1. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 299।
2. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2062, 3–23–36।
3. ऋतुसंहार, चौ.सु.भा.प्र., वाराणसी, 1998, 4/16,58।
4. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 328।
5. वही, पृ. 329।
6. वही।
7. नाट्यशास्त्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1968, 21/39–40।

ब्राह्मणों को पूजनीय समझा जाता था। शत्रुओं का प्रतिकार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया जाता था। युद्धकाल तथा अन्य समय में नियमित व्यायाम की परम्परा मिलती है। भोजन की शुद्धता पर दण्डिकालीन समाज बहुत सुक्ष्मतापूर्वक ध्यान देता था। प्रायः परिवार के सभी सदस्य एक ही साथ भोजन करते थे परन्तु अतिथि के आगमन पर सर्वप्रथम अतिथि के भोजन कर लेने पर ही परिवार के लोग भोजन करते थे। दण्डिकालीन समाज प्रायः संयुक्त–परिवार की श्रृंखला में बंधा हुआ था। कन्याओं पर पिता का पूर्ण संरक्षण रहता था। प्रायः कन्याए अपनी माता के साथ ही घूमने के लिए जाती थी। यहाँ कन्याओं द्वारा स्वपति चुनाव में भी माता–पिता की सहमति होती थी। मनुष्य हर प्रकार से अपनी तथा राज्य समृद्धि की कामना करता था। उत्सव–महोत्सव में लोग अनुशासनात्मक ढंग से भाग लेकर तत्त्कालीन व्यावहारिक जीवन का बड़ा ही सहज स्वरूप देने का प्रयास किया है। गुरू के चरणों में शिष्य अपने जीवन का उज्जवल विकास करता था तथा गुरूभक्त होकर घर वापस आता था।

मनोरञ्जन –

जीवन में मनोरञ्जन की परम्परा सृष्टि के आदिकाल से ही चली आ रही है। चान्चल्य मानवमन की सहज प्रवृत्ति है। किसी स्थिति विशेष में मन कभी घबराहट का तो कभी एकरसता का अनुभव करता है, यही कारण है कि समरसता या घबराहट के अपनयन के लिए मन निरन्तर कोई न कोई योजना बनाता है जिससे वह रञ्जित, आनन्दित, तथा आह्लादित हो सके। उसकी इसी योजना को हम मनोरञ्जन के उपागम की संज्ञा दे सकते हैं।

मानव जीवन सुख–दुःख के आयामों के साथ निरन्तर आगे की ओर प्रवाहित होता रहा है। जिसमें अनेक अवरोध एवं विषमताएँ मानव जीवन से टकराती हुई निकल जाती है। इस प्रकार आदिकाल से ही यह प्रवाहमान जीवन हँसते–खेलते, दुःख, अवसाद, आनन्द एवं उल्लास की तंरगों में अंगड़ाई भरता हुआ हमेशा गतिशील रहा है। विभु ने मनुष्य को केवल सुख या दुःख ही नहीं दिया अपितु विपरीत परिस्थितियों में मानव समाज के लिए मनोरञ्जन को भी विस्थापित किया। मनोरञ्जन शब्द का अर्थ होता है मन का रञ्जन, लोक के सहज जीवन में मनोरञ्जन का स्वरूप सरलता से देखा जा सकता है। ग्राम्यजीवन में स्त्री–पुरुष अथवा जनसाधारण उल्लास के साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इसी के द्वारा उनके जीवन को जो आह्लाद प्राप्त होता है वही मनोरञ्जन है। इसी से वे अपने मानसिक क्लेशों का शमन करते हैं।

उल्लास लोक–मानस की शाश्वत माँग रही है। विश्वसाहित्य साक्षी है कि वसुंधरा के किसी भी खण्ड में निवास करने वाला मानव किसी न किसी प्रकार से मनोरञ्जन करता रहा है। उनके प्रमोद के साधनों, विधि–विधानों में भले ही वैविध्य

रहा हो किन्तु हर्ष हेतु सम्पन्न होने वाले सभी क्रिया–कलाप मन की खिन्नता का अपनयन कर हृदय को रञ्जित ही करते हैं। यही कारण है कि मनोरञ्जन आज भी जीवन का अनिवार्य अङ्ग बना हुआ है।

'महाकवि दण्डी' की कृतियों में उल्लास के अनेक वर्णन मिलते हैं जिससे तत्कालीन समाज अपने मन को मुदित करता था। उनकी कृतियों में जीवन की अन्य अवस्थाओं के उद्घाटन के साथ समाज में आमोद–प्रमोद विषयक दृष्टिकोण एवं उनके उपादानों को भी उसी प्रकार प्रकट किया गया है जिस प्रकार जीवन के अन्य चित्र को प्रकट किया गया है। कविदण्डी जीवन की यथार्थता प्रकाशित करते हैं। उनकी कृतियों में वर्णित मनोरञ्जन को अधोलिखित शीर्षकों के आधार पर यहाँ वर्णित किया जा रहा है–

उत्सव –

दण्डिकालीन समाज में लोकरञ्जन के सन्दर्भ में उत्सव का विशेष महत्त्व था। इसमें सभी लोग एक स्थान पर इकट्ठा होकर मनो–विनोद करते थे। उत्सव से मानव मन में उत्पन्न विषाद का प्रक्षालन हो जाता है। "जिस प्रकार सूर्य की तुलना स्वर्ग राज्य की खिड़की से की गई है उसी प्रकार उत्सव और मेलों को यदि समाज की खिड़की के समान माना जाय तो असंगत न होगी क्योंकि इनके द्वारा किसी भी जाति का रहन–सहन, खान–पान, वेश–भूषा, चाल–ढाल, तथा रीति–रिवाज की झाँकी मिल जाती है। प्रसंगतः भारत की आदिकालीन जातियाँ सहम और संकोच को ताक पर रखकर कर आनन्द मनाने में मग्न हो जाती थी। इन्हीं उत्सवों के द्वारा वह अपने हृदय के सहज और सरल भावों को प्रकट करती थी।"[1] आचार्यदण्डी की कृतियों में सीमन्तोत्सव, कामोत्सव, कन्दुकोत्सव और वसन्तोत्सव का वर्णन आया है। तत्कालीनसमाज के उत्सवों पर विचार करते हुए जयशंकर त्रिपाठी कहते हैं "समाज में प्रायः उत्सवों का आयोजन होता था। युवकों में कामवासना की प्रवृत्ति विद्यमान थी और वे विलास द्यूत, कपट आदि के आचरण में प्रवीणता रखते थे। कुक्कुटों का युद्ध एवं एन्द्रजालिकों (जादूगरों) का चमत्कार देखने के लिए सम्पन्न आयोजन उस समय के उत्सवों के रूप में हुआ करते थे। राजा भी ऐन्द्रजालिकों के प्रदर्शनों का आयोजन सम्पन्न करता था।"[2] 'रानीवसुमति' के गर्भ धारण करने पर आया है

---

1. तिवारी, डॉ. काशीनाथ, आचार्य दण्डी की साहित्य साधना, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1998, पृ. 349
2. त्रिपाठी जयशंकर, भारंतीय साहित्य के निर्माता दण्डी, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1991 पृ. 84।

आयोजित उत्सव सहज ही देखने को मिलता, जिसमें राजागण, सुहृद एवं राज्य की प्रजा उपस्थित होकर इस उत्सव से मनोरञ्जन करती है।[1]

कामोत्सव –

कामोत्सव के क्रम में 'महर्षिमरीचि' और 'काममञ्जरी' का वृत्तान्त 'दशकुमारचरित' में अत्यन्त रोचक एवं परिहासपूर्ण रूप में प्राप्त होता है।[2] महर्षि 'मरीचि' को 'काममञ्जरी' पर आसक्त देखकर कामोत्सव की घोषणा की जाती है। इस अवसर पर राजवीथियाँ सजायी जाती हैं, युवक और युवतियाँ उपवन में एकत्र होकर इसका आनन्द उठाते हैं तथा स्त्री और पुरुष दोनों वर्ग अपने को विधिवत अलङ्कृत कर एक स्थान पर एकत्र होते हैं। इस आयोजन का विशेष महत्त्व मनोविनोद ही होता था। अतः 'काममञ्जरी' की विलासपूर्ण भाव-भङ्गिमाओं एवं उसकी वाक्पटुता से समाकृष्ट हुए ऋषि 'मरीचि' के मुख्यातिथ्य में सोल्लास सम्पन्न हुए उत्सव का उल्लेख कामोत्सव के नाम से समाप्त होता है। जिसका रोमांचक उद्देश्य काममञ्जरी और उससे प्रतिस्पर्धा करने वाली वेश्या (उसकी सखी) के बीच निर्धारित एक शर्त थी कि यदि काममञ्जरी मरीचि को मोहित कर लेती है तो दूसरी वेश्या उसकी दासी बनकर रहेगी।"[3]

कन्दुकोत्सव –

जब मित्रगुप्त अपना स्ववृत्तान्त सुनाते हुए राजवाहन से कहता है कि एक समय भ्रमण के दौरान मैं, सुह्यप्रान्त के 'दामलिप्त' नामक नगर के उद्यान में पहुँचा जहाँ का दृश्य उत्सवजन्य था। वहीं एकान्त में एक युवक आत्म-विनोद के लिए वीणा वादन कर रहा था।"[4] युवक के द्वारा कन्दुकोत्सव का प्रयोजन इस प्रकार बताया गया कि तुंगधन्वा से उत्पन्न राजकुमारी कन्दुकावती जो कन्दुकक्रीड़ा से देवी की आराधना करती है, तथा विविध प्रकार अपनी शारीरिक क्रियाओं द्वारा देवी को प्रसन्न करने की चेष्टा करती है।[5] कन्दुकक्रीड़ा से तात्पर्य गेंद का खेल है। राजकुमारी कन्दुकावती गेंद से ही क्रीड़ा करती है जिसका आनन्द वहाँ उपस्थित सभी लोग लेते हैं।

---

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 12।
2. वही, द्वितीयोच्छ्वास उत्तरपीठिका, पृ. 145।
3. वही, पृ. 147।
4. वही, षष्ठोच्छ्वास, पृ. 319 – तत्र क्वचिदति मुक्त कलाता मण्डपे कमपि वीणावादेनात्मानं विनोदयन्तमुरकण्ठितं युवानमद्राक्षिम्।
5. वही, तृतीयोच्छ्वास, पृ. 225 – कोऽपि राजसूनुनिर्गूढ चरन्। अमुष्य वसन्तोत्सव सहसखीभिनंगरो पवन विहारिणी रतिरिव विग्रहिणी यदृच्छया दर्शनपथं गतासि।

वसन्तोत्सव –

महाकवि दण्डी के दशकुमारचरितम् में 'वसन्तोत्सव' के दृष्टान्त अनेकत्र प्राप्त होते हैं, यथा जब 'पुष्पकरिका' और 'कल्पसुन्दरी' आपस में बातचीत करती हैं। पुष्पकारिका राजकुमार के सम्बन्ध में बताती है कि इस नगर में कोई राजपुत्र गुप्त वेश में घूमता है। 'वसन्तोत्सव' के समय अपनी सखी–सहेलियों सहित विरोधिनी रतिदेवी के सदृश सुन्दर रूपवाली तथा स्वेच्छा से नगर की वाटिकाओं में विचरण करने वाली आप उस राजपुत्र के द्वारा देखी गयी हैं।[1] इसके अलावा वसन्तऋतु के वर्णन का संकेत 'राजवाहन' और 'अवन्तिसुन्दरी' के उद्यान–मिलन तथा[2] 'अवन्तिसुन्दरी' कथा में भी सम्प्राप्त होता है। कालिदास की 'ऋतुसंहार' से भी प्राप्त होता है कि वसन्तऋतु के अवतरण की सूचना वसन्तोत्सव से मिलती है, जहाँ विलासिनियाँ शीतकाल के वस्त्रों के भार से मुक्त हो जाया करती थी। लाक्षा रंग या कुंकुम से रञ्जित तथा सुरभित कालागुरु से सुवासित हल्की लालसाड़ियाँ और केसरिया रङ्ग की चोली धारण करती थीं। कोई कुसुम्भी रङ्ग से रङ्गे हुए दुकूल, और कानों में नवीन कर्णिकार के पुष्प, नील अलका में रक्ताशोक के फूल तथा वक्षस्थल पर उत्फुल्ल नवमालिका की माला धारण करती थीं।[3] 'रत्नावली' के मञ्चन के समय सूत्रधार कहता है कि "कौशाम्बी में वसन्तोत्सव के धूम में अन्तःपुर के सब सेवक, नर और नारी डूबे हुए हैं।"[4] 'मकरन्दोद्यान' में महारानी 'वासवदत्ता' कामदेव की पूजा सम्पन्न करती हैं, जिसमें महाराजउदयन भी उपस्थित रहते हैं। अतः प्रस्तुत उद्धरणों से उत्सव की जीवन्तता स्वतः प्रलक्षित होती है।

क्रीड़ा –

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव अन्तःकरण में क्रीड़ा भावना को उसके दैनिकजीवन के अङ्ग के रूप में देखा जा सकता है। मनुष्य के यायावरी जीवन में भी इसने साथ नही छोड़ा, उसके द्वारा सम्पन्न विविध क्रिया–कलाप, गतिविधियाँ किसी न किसी क्रीड़ा की जन्मदात्री बनी और धीरे–धीरे क्रीड़ा का विकास होने लगा। वर्तमान में क्रीड़ा न केवल शारीरिक विकास शसक्तता से सम्बन्धित है अपितु शारीरिक स्वास्थ्य के साथ–साथ मानसिक स्वास्थ्य भी मनुष्य को इसके द्वारा स्वतः ही मिल जाता है। क्रीड़ा

---

1. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 82।
2. ऋतुसंहार, चौ.सु.भा.प्र., वाराणसी, 1998, श्लो. 6/4–5–6।
3. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 37।
4. रत्नावली, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1986, पृ. 6 – नान्द्यन्ते–अद्यादं वसन्तोत्सवे सबहुमान माहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राज समूहेनोक्तो यथा–अस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालंकृता रत्नावली नाम नाटिका कृता।

से शरीर की समस्त मांसपेशियाँ सक्रिय रहती हैं तथा रक्त प्रवाह तीव्रता से होता रहता है। एक कहावत है–"स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का विकास होता है"।

मनुष्य आज की तरह प्राचीनसमय में भी अवकाश के समय क्रीड़ा से अपना विनोद करता था। जिससे उसमें नयी ऊर्जा का सञ्चार होता था और पुनः अपने कार्य को और तीव्रगति से करने लगता था। क्रीड़ा से मनुष्य के हाथ पैर मजबूत होते हैं तो बुद्धि में तर्कशक्ति का जन्म होता है। अतः दोनों मनुष्य जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि शारीरिक बल के साथ–साथ बुद्धिबल का भी होना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार दण्डी की कृतियों में शारीरिकक्रीड़ा और बुद्धिक्रीड़ा का सम्यक् विवरण प्राप्त होता है।

द्यूतक्रीड़ा –

इसका उल्लेख वैदिक–साहित्य से ही प्राप्त होता है। 'ऋग्वेद' में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[1] 'आचार्यमनु' ने इसे अक्षक्रीड़ा नाम देते हुए काम से उत्पन्न होने वाले दश व्यसनों में से एक माना है।[2] आचार्यदण्डिकालीन समाज में द्यूत–क्रीड़ा का व्यवहार तत्त्कालीन क्रीड़ा में से एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग के रूप में सम्प्राप्य है। यहाँ पुरुषों के साथ–साथ स्त्रियाँ भी द्यूत–क्रीड़ा के लिए प्रवीण बनाई जाती थीं। 'काममञ्जरी' की माता के द्वारा अपनी पुत्री को द्यूतकला व पासा का ज्ञान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] 'अपहारवर्मा' 'विरूपक' के वृत्तान्त को सुनकर द्यूतों की मण्डली में जाता है, जहाँ जुआ के सम्बन्ध में अनेक तथ्य सामने आते हैं। उस समय पचासों प्रकार की द्यूत–कलाएँ प्रचलित थी।[4] 'द्यूतक्रीड़ा में द्यूताध्यक्ष होता था, जिससे अनुमति लेकर ही लोग खेल प्रारम्भ करते थे।[5] 'अपहारवर्मा' सोलह हजार अशर्फियाँ जीतकर उनमें से आधा द्यूताध्यक्ष को और आधे का आधा सभ्यों को देकर शेष आधी अशर्फियों को अपने अंटी में रख लेता है।[6] अतः ज्ञात होता है कि जीते हुए धन का 1/4 भाग ही जीतने वाला अपने पास रख पाता था। द्यूताध्यक्ष का हिस्सा आधा होता था। सम्भवतः इसीलिए कि वह सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का व्यवस्थापक एवं अनुशासक

---

1. ऋग्वेद, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1991, 10/34।
2. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, 2000, 7/50।
3. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 133 धूतकलास्वभ्यन्तरीकरणम्
4. वही, पृ. 154 – पञ्चविंशति प्रकारासु सर्यासु धूताश्रयासु।
5. वही, पृ. 155 – धूताध्यक्षानुमत्या व्यत्यषजत्।
6. वही, पृ. 156 – मया जितश्चासौ षोडश सहस्राणि दीनाराणाम्। तदर्ध सभिकाय सभ्येभ्येश्च दत्त्वार्ध स्वीकृत्योदतिष्ठम्।

होता था। 'अर्थपाल' एक गर्भगृह में एक वृद्धा से मिलता है जो बताती है कि 'मणिकर्णिका' की माता से आप की माता कान्तिमति ने जब यह गर्भ में ही थी तभी आपके साथ विवाह करने के लिए इसे जुए में जीत लिया था।[1] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि लोग लड़ाई की बाजी लगा कर भी जुआ खेलते थे। 'महाभारत'[2] में भी उल्लेख मिलता है कि 'युधिष्ठिर' जुआ खेलते हुए 'द्रौपदी' को दाव पर रखकर जुआ खेलते हैं और हार जाते हैं। 'अनन्तवर्मा' का सेवक 'विहारभद्र' द्यूतक्रीड़ा से अनेक लाभों को बताते हुए कहता है कि "द्यूतक्रीड़ा से संसार की सभी वस्तुओं को तृण के सदृश त्यागने की शक्ति प्राप्त होती है। जय–पराजय का भी कोई निश्चय नहीं रहता कि कौन कब विजित होगा अथवा किसकी कब जय होगी? जुआ खेलने वाला हर्ष–विमर्ष के विषादों से दूर रहता है। इससे पौरुष बढ़ाने वाले अमर्ष की उत्पत्ति होती है। जुआ खेलने से हस्तकौशल आदि पाण्डित्य का अनुभव होता है। बुद्धि में नैपुण्य आता है। एक ही कार्य में मन लगाने से एकाग्रता उत्पन्न होती है। उद्योग के सहायक कर्मों में बुद्धि की लगन बढ़ती है। जुआ खेलने में एक से एक कठोर पुरुषों से सम्पर्क होता है जिससे मन इतना दृढ़ हो जाता है कि किसी के विचलित करने पर भी विचलित नहीं होता है। जुआ खेलने से स्वाभिमान का भाव उदित होता है एवं दीनता रहित जीवन व्यतीत करने की क्षमता आती है। अतः जुआ खेलना श्रेयष्कर है।"[3] 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भगवान श्रीकृष्ण ने अपने को छल करने वालो में जुआ कह कर इसकी प्राचीनता एवं व्यवहार्यता को प्रकट किया है।[4] द्यूतक्रीड़ा बुद्धिक्रीड़ा के अन्तर्गत आती है। आगे शेष सभी क्रीड़ा शरीर क्रीड़ा से ही सम्बन्ध रखती है।

कन्दुकक्रीड़ा –

कन्दुक का अर्थ गेंद होता है। अर्थात गेंद के खेल को कन्दुकक्रीड़ा कहते हैं। इसके पादकन्दुकक्रीड़ा और हस्तकन्दुकक्रीड़ा दो भेद माने जाते हैं। लेकिन

---

1. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 156।
2. महाभारत, सभापर्व, द्यूतयाग –32–45–65।
3. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 431– द्यूतोऽपि द्रव्यशंशेस्तृणवत्त्यागादुपमान माशयौदार्यम्। जयपराजयनवस्थानाद्धर्ष-विषादयोरविधेयत्वम् पौरुषैकनिर्मित्तस्याम्र्षस्य वृद्धिः, अक्षहस्तभूम्यादिगोचराणामत्यन्त दुरुप-लक्ष्याणां कूटकर्मणा-मुपलक्षणवादनन्तवुद्धिनैपुण्यम्, एकविषयोंपसंहाराच्चित्रस्यातिचित्रमैकाग्रपम्, अध्यवसाय- सहचरेषु साहसेष्वरतिः अतिकर्कश पुरूपप्रति संसागदिनन्यधर्षपीयता मानावधारणमकृपर्ण च शरीरवापनमिति।
4. श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2004; श्लो. 36/10 – द्यूतं छलयातामस्मि।

महाकविदण्डी ने देश–काल एवं परिस्थिति के अनुसार हस्तकन्दुकक्रीड़ा का ही संकेत किया है। राजकुमारी कन्दुकवती अनेक प्रकार से कन्दुकक्रीड़ा करती है।[1] जब गेंद निश्चल हो जाता था तब कन्दुकावती उसे कठोर प्रहारों से ऊपर को उछाल देती थी। फिर वैपरीत्य गति से उस गेद को निश्चल कर देती थी। जब गेद निश्चल होकर वश में हो जाता था, तब उसे सरलता से बायें और दाहिने हाथों से ताड़ कर पक्षी की तरह ऊपर की ओर उछाल दिया करती थी। बहुत ऊपर की ओर उछले हुए कन्दुक को वह कुमारी बीच में ही पकड़ दशपदचक्रमण की गति से क्रीड़ा करती थी। प्रत्येक दिशा में कन्दुक को उछालकर वह अपनी ओर खीच लेती थी। "अर्थपाल पर्यटन करता हुआ, क्रीड़ा उद्यान में सखियों के साथ गेंद खेलती हुई काशीराज 'चण्डसिंह' की 'राजकुमारीकान्तिमति' को देखता है।[2] इस प्रकार कन्दुक–क्रीड़ा की समूह और एकल दोनों की परम्परा दण्डिकालीन समाज में विद्यमान थी। 'स्कन्दपुराण' में भी कन्दुकक्रीड़ा का सूल्लेख मिलता है।"[3] 'स्वप्नवासवदत्तम्' में भी कन्दुकक्रीड़ा को राजकुमारी पद्मावती सखियों के साथ सम्पन्न करती हैं।[4]

आखेटक्रीड़ा –

प्राचीनकाल से ही आखेट राजकुमारों व राजाओं आदि के मनोरञ्जन के साधन के रूप में प्रसिद्ध है। कविदण्डी 'अनन्तवर्मा' के सेवक 'विहारभद्र' द्वारा आखेट का महत्त्व प्रदर्शित करते हैं जो कि वैज्ञानिकतापूर्ण है। आखेट से व्यायाम होता है, शरीर में बल बढ़ता है तथा शरीर में बल रहने से किसी भी समय आपत्ति आने पर मनुष्य आत्मरक्षा कर सकता है। जांघों में पैदल रास्ता समाप्त करने की शक्ति आती है। कफ दबा रहता है अतः उदराग्नि उद्दीपित रहती है। मेद (चर्बी) के न बढ़ने से अङ्ग प्रत्यङ्ग फुर्तीले रहते हैं। शीत, वायु, उष्ण, भूख, प्यास आदि को सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है। सभीप्रकार के प्राणियों के मनोगत भाव को ज्ञात करने का ज्ञान प्राप्त होता है। सिंह, भेड़ियाँ आदि चौपायों को मारने से स्थल–मार्ग निष्कण्टक हो जाता है। स्थल–मार्ग साफ रहने से मनुष्य निर्भय होकर पर्वत–अरण्यों में घूमकर नदियों की सैर कर सकता हैं जिनसे ज्ञान वृद्धि के साथ–साथ भौगोलिक एवं भौतिक वस्तुओं का भी बोध होता है। साथ ही यह भी विदित हो जाता है कि अमुक स्थान अमुक जगह पर है। बार–बार आवागमन से बनैले पशुओं को उस शिकारी के प्रति प्रीति हो जाती है। अतः फिर वे कष्ट नहीं देते। आखेट से उत्साह शक्ति बढ़ जाती है।

1. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 326।
2. वही, चतुर्थोच्छ्वास, पृ. 262।
3. स्कन्दपुराण, 4/65/27/ तथा 1/2/38।
4. स्वप्नवासवदत्तम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1955, अंक 1–4।

जिससे रिपुगणों में भय उत्पन्न करने के अनेक तरीके ज्ञात हो जाते हैं।[1] आखेट से इतने लाभ को ज्ञापित कर कवि ने इसे जीवन के लिए अनिवार्य अङ्ग के रूप में स्वीकार किया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में दुष्यन्त आत्म विनोदार्थ आखेट खेलने जङ्गल में जाता है।[2] 'आचार्यदण्डी' अपनी कृति 'अवन्तिसुन्दरी' में भी आखेट का वर्णन करते हैं।[3] "उपहारवर्मा के सन्दर्भ में सन्यासी से वृद्धा बतलाती है कि व्याघ्र ज्यों ही उस कपिला गौ को खींचने के लिए झपटा त्यों ही किसी व्याध के हाथ से छोड़े गये बाण से व्याघ्र मार डाला गया।"[4] इस प्रकार जङ्गली जानवर से गौ की रक्षा होती है। अतः इस घटना से एक तथ्य और उभर कर सामने आता है कि आचार्यदण्डी का समाज गौ रक्षक समाज था। व्याध के द्वारा व्याघ्र को मारना यह भी ज्ञापित करता है कि उस समय राजकुलों के साथ–साथ व्याध भी आखेट करते थे।

जलक्रीड़ा –

मनोविनोद के रूप में जलक्रीड़ा भी प्रसिद्ध है। यह क्रीड़ा स्त्री–पुरुष आपस में मनोविनोद के लिए एकान्त सरोवर में करते हैं। 'राजवाहन' ने अपने पूर्वजन्म के सम्बन्ध में जलक्रीड़ा का उल्लेख किया है। वह 'अवन्तिसुन्दरी' से कहता है "हे प्रिये प्राचीनकाल में शाम्ब नामक एक महींपति अपनी पत्नी के साथ जलविहार करने की अभिलाषा से एक सरोवर तट पर गया था।"[5] 'प्रमति' निःशंक होकर राजकुमारी के साथ जल–क्रीड़ा करता हुआ डुबकियाँ लगाता है।[6] 'अवन्तिसुन्दरी' में भी 'महाकविदण्डी' जलक्रीड़ा का वर्णन करते हैं।[7] अतः उस समाज में जलक्रीड़ा भी मौलिकरूप में विद्यमान थी जिसे जलविहार भी कहा जाता था।

कुक्कुटक्रीड़ा –

कुक्कुटक्रीड़ा लोक मनोरञ्जन का एक अच्छा साधन था। इसमें कुक्कुटों की लड़ाई होती थी। जिसमें हार और जीत ही इसका परिणाम होता था। दण्डी ने इस

---

1. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 430।
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1991, 7/1।
3. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 10 "एकदा च मृगयां गच्छताभुना नीतस्तति नर्वन्धादस्वकुलसमुचितमहुशेषं मांस मानयैव लज्जया पित्रौरनितकमनु (प) सृत्य तीर्थयात्रा प्रसंगेन दिगन्तराण्य भ्रमत्।
4. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 26।
5. वही, पञ्चमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 90।
6. वही, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 313।
7. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 27–8।

क्रीड़ा का उल्लेख रूचिकर ढंग से किया है। "श्रावस्ती में कुक्कुटक्रीड़ा चल रही थी। वहाँ बहुत कोलाहल मचा हुआ था। वही प्रमति के वृद्ध से पूछने पर वह बताता है कि पूर्वदेशीय नारिकेल जाति के कुक्कुट के साथ पश्चिमदेशीय वलाका जाति के कुक्कुट की क्रीड़ा (युद्ध) हो रही है।"[1] इसको देखने के लिए बहुत लोग इक्ट्ठा है। अतः कुक्कुटक्रीड़ा तत्कालीनसमाज का एक अच्छा मनोरञ्जन था।

शरभक्रीड़ा –

'कविदण्डी' ने अवन्तिसुन्दरी में शरभक्रीड़ा का उल्लेख किया है।[2] यह क्रीड़ा हाथी के बच्चे के समान क्रीड़ित होने के कारण 'शरभक्रीड़ा' के नाम से जानी जाती है।

त्रीताल –

दण्डी ने त्रीताल नामक खेल को भी उद्धृत किया है।[3] जिसका वर्णन 'लीला' के समान किया गया है।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट हो जाता है कि आचार्य दण्डिकालीन समाज में द्यूत–क्रीड़ा, कन्दुक–क्रीड़ा, आखेट–क्रीड़ा, जल–क्रीड़ा, कुक्कुट–क्रीड़ा, शरभ आदि क्रीड़ाओं का मनोरञ्जनार्थ व्यवहार होता था।

नृत्य, गीत –

नृत्य, गीत और वाद्य–मनोरञ्जन के सहज–आयाम हैं। नृत्य को आह्लाद् के रूप में अतिविशिष्ट साधन माना जाता है। कला की भाँति यह भी स्वच्छन्द तथा परम्परा पर आधारित है। देश, काल, पात्र आदि के आधार पर इनके कई रूप प्रचलित हैं। इनमें नियम अथवा विधि–निषेधों की सीमा नर्तकों के आनन्द व उल्लास तक सीमित है। इसमे मनुष्य की ऐतिहासिक एवं सामाजिक परम्परा तथा विकास के दर्शन होते हैं। गीतमाधुरी भी स्थानीय सांस्कृतिक परम्परा से प्रसूत होती है। इसमें आचार–विचार सब कुछ घुला–मिला रहता है। संस्कृति को संगीत के द्वारा जीवित हुआ स्वीकार करना अनुचित नहीं है। महाकविदण्डी की कृतियों में नृत्य, गीत, मनोरञ्जन के रूप में आज की ही तरह चित्रित मिलता है। उस समय इसका प्रचलन संगोष्ठियों से लेकर व्यक्तिगत एवं सामूहिक आयोजनों में सुप्राप्त होता है। वेश्याओं को नृत्य–गीत आदि के लिए अति प्रवीण बनाया जाता था। 'काममञ्जरी' की माता गायिका पुत्री के प्रति नृत्य–गीत की शिक्षा देना अपना कर्त्तव्य मानती है।[4] नागरिक सभाओं में नाच–गाने

1. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 304।
2. वही, पृ. 66।
3. वही, पृ. 67।
4. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 132।

का आयोजन किया जाता था। 'काममञ्जरी' की छोटी बहन रागमञ्जरी का नागरिक सभा में नाच-गान होना सुनिश्चित जानकर अत्यधिक संख्या में लोग एकत्र हुए थे।[1] यहाँ स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुष भी नृत्य-गीत में प्रवीण होते थे। रागमञ्जरी का पति नाचने और गाने में प्रवीण रहता है।[2] गायिकाओं के अतिरिक्त राजरानियाँ भी नृत्य-गीत की शिक्षा प्राप्त करती थी। विकटवर्मा की पत्नी कल्पसुन्दरी को भी नृत्य-गीत आदि में अति निपुण बताया गया है।[3] समाजिक संरचना में कन्दुक-नृत्य प्रख्यात नृत्य था। राजकुमारी कन्दुकावती 'कन्दुक-नृत्य' के लिए प्रसिद्ध थी।[4] इस नृत्य को देखने के लिए बहुसंख्यक लोग एकत्रित होते थे। अवन्तिसुन्दरी में भी कवि शिरोमणि दण्डी ने गीत-संगीत के अनेक अवसरों का सुवर्णन किया है।[5]

संस्कृत साहित्य की अन्य रचनाओं में भी नृत्य-गीत आदि का बहुतायत व्यवहार-द्रष्टव्य होता है। अतः नृत्य-गीत आदि मनोविनोद के आयाम 'मानव-जीवन' में प्राचीनसमय से ही देखने को मिलते हैं। 'डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल' ने 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' में आरभटी नृत्य सहित उसके पञ्च भेदों मंडली, रेचक, रासरस, रभसारब्धनर्त्तन चटलशिखावर्तन आदि पर दृष्टि डाला है।[6]

वाद्य –

वाद्य मनोरञ्जन के रूप में विख्यात है। इसका प्रयोग अनेक प्रकार के सांस्कृतिक उत्सवों एवं महोत्सवों में बहुतायत मिलता है। वाद्य संगीत में एक ध्वनि उत्पन्न कर देता है जिससे संगीत की लय और अधिक परिष्कृत हो जाती है। लोक-नृत्य, वाद्यों के सफल तान द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। वाद्यकार विभिन्न प्रकार के नृत्यों का नर्तन करने वाले वाद्यों के वादन में सिद्धि प्राप्त किये होते हैं। संगीत इन्हीं कुशल वाद्यकारों की वादन-कला लोक ध्वनियों में सुरक्षित है। शास्त्रीय संगीत की तरह लोक धुनों का जो स्वरूप पहले निर्धारित था उसका निर्वाहन आचार्य दण्डिकालीन वाद्यकारों के द्वारा भी किया गया है। वाद्य का प्रयोग आत्म विनोदार्थ भी किया जाता था। मित्रगुप्त 'सुह्यप्रान्त' के 'दामलिप्तनगर' में पहुँचता है तो वह एक उत्कण्ठित व्यक्ति को आत्म विनोदार्थ वीणा बजाते हुए देखता है।[7] वाद्य बजाने में गणिकाएँ भी निपुण होती

1. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 171।
2. वही, पृ. 190।
3. वही, तृतीयोच्छ्वास, पृ. 22।
4. वही, षष्ठोच्छ्वास, पृ. 320।
5. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 29-102।
6. अग्रवाल डॉ. वासुदेवशरण, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 2000, पृ. 33।
7. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 319।

थी।[1] 'विहारभद्र' 'अनन्तवर्मा' को समझाते हुए संगीत एवं तुरही-वाद्य के कोलाहलों से सुबह नीद भंग होने की बात कहता है।[2] तुरही आदि सुबह-सुबह बजाया जानेवाला वाद्ययन्त्र है। रङ्गशालाओं में अनेक प्रकार के वाद्यों का व्यवहार किया गया है।[3] वाद्यों के रूप में अवन्तिसुन्दरी में मृदङ्ग[4] तथा दुन्दुभि[5] का वर्णन किया गया है। दुन्दुभि युद्ध के समय बजाया जानेवाला एक विशेष वाद्ययन्त्र है जिसके बजाने से सैनिको में जोश भर जाता है। 'वासुदेवशरण अग्रवाल' ने 'हर्षवर्धन' के जन्म के समय शंख, दुंदुभी, मङ्गलवाद्य, और पटह बजाने का उल्लेख किया है।'[6]

लोकनाट्य –

लोकनाट्य की परम्परा बहुत प्राचीन समय से ही लोक में विद्यमान है। वैदिककाल में अनेक लोकनाट्यों का वर्णन मिलता है। वस्तुतः लोकनाट्य अभिनय के समान ही कलात्मक शारीरिक प्रस्तुति होती है जो किसी विशेष अवसर पर खेला जाता है। आधुनिक रङ्ग-मंच के विकास के लिए लोकनाट्य मनोरञ्जन की वह थाती है जो प्राचीन और अर्वाचीन नाट्य परम्परा को अक्षुण्ण रखी है। इस कारण आज जब हम अपनी नाट्य परम्परा पर विचार करने बैठते हैं तो हमें नाट्यशास्त्र तथा अन्य प्राचीन लक्षण ग्रन्थों तथा नाटकों के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों के लोकनाट्यों का परिचय मिलता है।

लोकनाट्य लोक-रञ्जन का आडम्बरहीन साधन है जो नागरिक मंच की अपेक्षाकृत निम्नस्तर के मंच पर विशाल जन-समूह के हर्षोल्लास से सम्बन्धित है। ग्रामीण-जनता में इसकी परम्परा युगों से चली आ रही है। देश की घटनाएं इन्हें प्रभावित करती हैं। समाज की प्रचलित भावनाएं इसका संचार करती है और भाषा तो इसके अभिव्यक्ति में चार चाँद लगा देती है। 'डॉ. मोहनानन्द झाँ' ने लोकनाट्य के सम्बन्ध में सत्य ही कहा है "गीत, नृत्य और संगीत से युक्त लोकानुरञ्जक कथावस्तु को लोकभाषा में अभिनीत ही होना लोकनाट्य है। सामान्य जीवन में लोकनाट्य सार्वजनिक मनोरञ्जन का सर्वोत्तम साधन होता है। दिन भर की परिश्रमजन्य क्लान्ति, चिन्ताओं और अवसाद का परिहार मनुष्य इस प्रकार के मनोरञ्जन युक्त

---

1. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 132।
2. वही, अष्टमोच्छ्वास, पृ. 422।
3. वही, षष्ठोच्छ्वास, पृ. 426।
4. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 89।
5. वही, 18-19।
6. अग्रवाल डॉ. वासुदेवशरण, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 2000, पृ. 65।

कार्यक्रमों में अनुभूत करता है। प्रत्येक देश का जीवन लोकनाट्यों की झंकार से गुंजित है।''[1] महाकवि दण्डी आठवीं शताब्दी के आस-पास उत्पन्न मूर्धन्य कवि हैं जिन्होंने जीवन की समस्त व्यवहार शैली को अपनी कृतियों में समुचित स्थान दिया है। इसीक्रम में एक स्थल पर लोकनाट्य का अति प्रभावकारी वर्णन दशकुमारचरित में आया है। 'विश्रुत' 'प्रचण्डवर्मा' के समीप जाकर कविता सुनाकर उसका मनोरञ्जन करने लगता है तथा सांयकाल में नृत्यगान विविध रीति के हाव-भाव, रोदन-हास, हाथ-पाँव मटकाकर दोनों हाथों से पृथ्वी पकड़ शिर घुमाते हुए ऊपर की ओर पैरों को उठाकर विच्छू व मकर के समान आकार बना लिया और मछली के समान रेंगने उलटने-पुलटने आदि का कौशल दिखाता है।''[2] यहाँ नृत्य, गान में जिन विविध हाव-भाव की ओर संकेत किया गया है वह लोकनाट्य का एक महत्त्वपूर्ण परिणति है। इससे मनुष्य सहजरूप से नृत्य-गान में तनमय हो जाता है। विच्छू या मकर का आकार बनाकर दर्शकों का विनोद करना आज भी पूर्वाञ्चल में देखने को मिलता है। विशेष कर शादी-विवाह के अवसर पर ही ऐसे विविध ही लोकनाट्यों का दर्शन होता है।

लीला –

लोक के चमत्कारिक दृश्यों को लीला कहा जाता है। जिसका व्यवहार्य अर्थ इन्द्रजाल या जादू है। यह मनोरञ्जन का वह साधन है जो अदृश्य को कुछ समय के लिए दृश्यमान बनाकर आश्चर्य चकित कर देता है। इसका वर्णन 'आचार्यदण्डी' ने अपनी कृति दशकुमारचरित में अत्यन्त सजीव रूप में किया है। यह लोक का एक अद्‌भुत चमत्कार है। इसे धर्म का उत्कर्ष रूप तथा पुण्य का फल माना जाता है। 'विद्येश्वर' नामक एन्द्रजालिक इन्द्रजाल को मनोविनोद का साधन भी बताता है।[3] विद्येश्वर इन्द्रजाल दिखाने के लिए मानसार के राजदरबार में आता है उसके साथ अन्य लोग भी आते हैं। ''विद्येश्वर अपना इन्द्रजाल दिखाना प्रारम्भ कर देता है। उसके दक्ष पात्र कई प्रकार के वाद्य बजाने लगे और अपने मधुर कंठ से सुरीले गीत गाने लगे। विद्येश्वर स्वयं मोर के पंख-पूर्च्छल को मन्त्र पढ़ कर घुमाने लगा। जिससे दर्शकों की चित्तवृत्तियाँ उसके तरफ अनुरञ्जित हो गयी। कुछ समय बाद भयंकर दृश्य उत्पन्न हो गया। वहाँ सहसा साँप निकलने लगे, सापों के मुख से जहरीला विष निकलने लगा। सांपों के मस्तक की मणियों से राजभवन का आँगन प्रकाशमान हो गया।''[4]

---

1. झा डॉ. मोहनानन्द, मिथिला सांस्कृतिक परम्परा में लोकगीत, जानकी प्रकाशन, दिल्ली, 1989, पृ. 41
2. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 49।
3. वही, पञ्चमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 101।
4. वही, पृ. 103-4।

अतः कवि ने यहाँ इन्द्रजाल के व्यापक स्वरूप को चित्रित किया है। अवन्तिसुन्दरी में भी इन्द्रजाल खेलने का सूल्लेख मिलता है। 'रत्नावली' के चतुर्थ अंक में भी उज्जयिनी से आया हुआ एन्द्रजालिक अपने जादू का खेल प्रारम्भ करता है। 'उदयन' और 'वासवदत्ता' दोनों आश्चर्यजनक खेल देख रहे हैं। एन्द्रजालिक राजा से स्वयं कहता है कि चारणों को देवताओं की स्त्रियों के नाचते हुए समूह को आकाश में दिखाता हूँ और वह वैसा ही चित्र भी उपस्थित कर देता है।[1] अतः लीला अथवा इन्द्रजाल की परम्परा समाज में अतिप्राचीन समय से ही दृष्टिगोचर होती है।

❑❑❑

1. रत्नावली, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1986, चतुर्थ अंक श्लोक 105।

अध्याय-५

आर्थिक-जीवन

संस्कृत साहित्य सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति की मञ्जुषा है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति जीविकोपार्जन के लिए अर्थोपार्जन करता है। अर्थ से अभिप्राय उन सब साधनों से है, जिनके द्वारा मनुष्य समृद्ध होकर अन्य पुरुषार्थों की प्राप्ति करता है। अर्थ से प्राप्तेच्छा की तुष्टि होती है। इसका सम्बन्ध जीवन जीने में सहायक सभी भौतिक सामग्रियों से है जिनसे वह सुखी बनता है। परन्तु अर्थ का अर्जन मनुष्य को धर्मपूर्वक ही करना चाहिए तभी वह फलीभूत होता है, तभी पुरुषार्थ चतुष्टय की सङ्कल्पना पूर्ण होती है। धर्म, अर्थ, काम का समानरूप से सेवन करने वाले व्यक्ति को प्रशंसनीय माना गया है। जो किसी एक ही पुरुषार्थ में रत रहता है उसे निन्दनीय कहा गया है।[1] आचार्य कौटिल्य ने अर्थ को धर्म एवं काम का मूल कहा है[2] इसी से मनुष्य शक्ति एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करता है तथा लौकिक सुखों का भोग करता है। राधाकृष्णन का भी मन्तव्य है कि "अर्थ के अन्तर्गत भौतिक सम्पत्ति तथा अधिकार इच्छा का भी समष्टि है। अस्तु इसमें आर्थिक के साथ-साथ राजनीतिक पक्षों को भी सम्मिलित समझना चाहिए।"[3] वस्तुतः अर्थ के अन्तर्गत जीवन-निर्वाह के समस्त भौतिक साधनों का समाहार होता है। इस प्रकार अर्थ के अन्तर्गत वार्ता अर्थात् कृषि, पशुपालन, वाणिज्य तथा राजव्यवस्था आदि सब कुछ आ जाता है। ये सभी अर्थतन्त्र के रूप हैं।

ब्रह्मा ने वर्णधर्म विभाजन के प्रसंग में वैश्य को अध्ययन, यज्ञ और दान के अतिरिक्त पशुपालन, वाणिज्य और कृषि आदि विशिष्ट कर्म जीविका के लिए दिये हैं।[4] मनुस्मृति में इन छः कर्मों के अतिरिक्त कुसीद अर्थात् ब्याज सहित ऋण व्यापार को भी कर्म की श्रेणी में रखा है।[5] महाभारत में अर्थ के महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उसे परमधर्म कहा गया है।[6] आचार्य दण्डी ने अर्थ के सन्दर्भ में लिखा है- 'अर्जन, वर्धन और उसे नष्ट होने से बचाना ही अर्थ का तत्त्व है। कृषि, पशुपालन, व्यापार,

1. रघुवंश, कृ.दा.अ. वराणसी, 1983, 14-21 - धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरसेषु वृत्ति।
2. अर्थशास्त्र, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984, 9/7/145-46।
3. राधाकृष्णन सर्वपल्ली, द हिन्दू व्यु ऑफ लाईफ पृ. 57।
4. विष्णुपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2063, 3/8/30।
5. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, ए.पं., 2000, 1/90।
6. महाभारत, परिमल पब्लिकेशन, देलही, 2001, उद्योग पर्व, 72/32।

सन्धि और विग्रह ये ही अर्थ के परिवार हैं। सत्पुरुषों को दान देना ही अर्थ का फल है।[1] शुद्रक ने भी अर्थाभाव को व्यक्त करते हुए उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं- पुत्रहीन व्यक्ति का घर सूना लगता है, मित्र के बिना चिरशून्य होता है। मूर्ख की सभी दिशाएँ सूनी हैं और निर्धन के लिए सब कुछ सूना है।[2]

यही समस्त भौतिक सुखों का मूलाधार बताया गया है। अर्थ के अभाव में धर्म और काम तथा इन तीनों के अभाव में मोक्ष की सिद्धि असम्भव है। धर्म, अर्थ, काम आदि सभी पुरुषार्थ की सिद्धि एक दूसरे पर आधारित है। अग्निपुराण में युवराज की शिक्षा में धर्म, अर्थ और काम आवश्यक बताया गया है।[3] इस प्रकार अर्थ से मनुष्य की सामाजिक प्रतिष्ठा वर्तमान रहती है। सभी सांसारिक संबन्ध अर्थ पर ही अवलम्बित हैं।

वैदिककाल से लेकर अद्यतन भारतीय जन-जीवन को अनासक्ति की भावना प्रभावित करती रही है। अर्थ सदैव मानव-जीवन का साधन रहा है। यहाँ अर्थोपार्जन का उद्देश्य धर्म ही माना गया है।[4] धर्म के अन्तर्गत मनुष्य के अर्थ प्राप्ति के प्रयासों को भारतीय वाङ्मय में सम्यक रूप से मर्यादित किया गया है। श्रीमद्भागवतपुराण में आया है कि व्यक्ति के लिए विहित त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) स्वजनों के लिए भी सुखदायी होना चाहिए। जिस कर्म से स्वजनों को क्लेश हो, केवल अपने को ही सुख प्राप्त हो वह त्रिवर्ग कल्याणकारी नही है। यहाँ अर्थ के पाँच उपयोग बताये गये हैं- (1) धर्म के लिए, (2) यश के लिए, (3) अर्थ के लिए, (4) काम के लिए, (5) स्वजनों के लिए, इस प्रकार धन का पञ्चधा विभाग करने वाला ही लोक में और परलोक में सुख प्राप्त करता है।[5] धन का वास्तविक उद्देश्य धर्म ही है।[6] कौटिल्य भी अर्थशास्त्र में इसके सम्बन्ध में लिखा है- 'धर्म और काम का मूलाधार अर्थ ही है।[7] सर्वदर्शनसंग्रह में भी चतुर्वर्ग में अर्थ और काम को जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य बताया गया है।[8]

---

1. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 143।
2. मृच्छकटिकम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1/8 –

   शून्यमपुत्रस्य गृहं चिर शून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।
   मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य।।
3. यादव डॉ. झिनकू, समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1977, पृ. 157।
4. मृच्छकटिकम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1/7।
5. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2063, 8/19/37।
6. वही, 5/14/2।
7. अर्थशास्त्र, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1984।
8. सर्वदर्शन संग्रह, पृ. 2।

उपनिषद् तत्त्ववेत्ता महर्षि अर्थ का त्यागपूर्वक भोग करने की शिक्षा देता है,[1] जो भारतीयसंस्कृति का मूलमन्त्र है, प्राणतत्त्व है। वास्तव में धन (अर्थ) किसका है अर्थात् किसी का भी नही है। यह धन तो परमात्मा का है, उसी के लिए है। इसलिए इसका त्यागपूर्वक भोग करना ही कल्याणप्रद है इस भावना से अनुप्राणित व्यक्ति कभी भी अर्थ का अपने को स्वामी नहीं मानता और न ही उसका दास बन सकता है। धर्मानुसार अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग के ही कारण भारत सदा धन-धान्य से सम्पन्न देश माना जाता रहा है।

कृषि –

भारत एक कृषि प्रधान देश है। कृषि का आर्थिक व्यवस्था में विशेष महत्त्व प्राचीन समय से ही रहा है। भारतीय जीवन मुख्य रूप से इसी पर अवलम्बित है। यहाँ के 70 प्रतिशत लोग कृषि कार्य से ही अपना जीवन निर्वाह कर देश की आर्थिक विकास में अपना अमूल्य योगदान देते हैं। कृषि का संकेत हमें उत्तरपाषाणकाल से ही प्राप्त होता है। वैदिकग्रन्थों में भी इसका विधिवत संकेत मिलता हैं। आचार्यदण्डी प्रणीत दशकुमारचरित भी कृषि कर्म सम्बन्धी अनेक तथ्यों का उल्लेख करता है। दशकुमारचरित में सबसे अधिक कृषि का वर्णन त्रिगर्त नामक नगर में अकाल पड़ जाने से परिलक्षित होता है। जहाँ धान की खेती क्षीण हो गयी, औषधियाँ निष्फल हो गयी थी, वृक्षों में फल-फूल न रह गये थे। मेघ जलहीन हो गये थे, नदियों का प्रवाह अत्यन्त अल्प हो गया था। तालाब आदि में केवल पङ्क मात्रा अवशिष्ट रह गया था। झरनों का बहना बन्द हो गया था। कन्दमूल-फल आदि के उत्पत्ति में कमी हो गयी थी।[2] यहाँ जलवर्षण न होने से फसल, पेड़-पौधे, फल-फूल आदि सिचाई के अभाव में नष्ट हो गये थे। जिससे समाज में अनेक प्रकार की अव्यवस्था का जन्म हो गया। चोरी, हत्या, लूट-पाट तथा अनेक कुकृत्यों द्वारा अपनी क्षुधा तृप्ति के साधन बना लिये थे। अन्य स्थलों में कूप,[3] नदी,[4] तालाब[5] आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। जिससे स्पष्ट होता है कि सिचाई व्यवस्था समुचित थी लेकिन वर्षा के जल से ही पर्याप्त मात्रा में सिचाई हो पाती थी।

---

1. ईशावास्योपनिषद, मो.ला.व. दिल्ली, वाराणसी, 9।
2. दशकुमारचरित, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी 2004, पृ. 341 - क्षीणसारं शस्य, ओषध्यो वन्ध्याः, न फलवन्तो वनस्पतयः क्लीबा मेघाः, क्षीणस्रोतसः स्रवन्त्यः, पङ्कशेषाणि पल्वलानि, निर्निस्यन्दान्युत्समण्डलानि विरलीभूतं कन्दमूलफलम्।
3. वही, पृ. 244, 411।
4. वही, पृ. 67, 72, 126।
5. वही, पृ. 341।

विष्णुपुराण में कृषि के जन्मदाता के रूप में राजा पृथु का उल्लेख आया है। यहाँ उद्धृत तथ्यों से ज्ञात होता है कि राजा वेन के राज्यकाल तक पृथ्वी असमतल थी। पृथ्वी पर कही पर्वत-कन्दराएँ थी और कही ऊँची-नीची भूमि थी। इस कारण से पुर और ग्राम का कोई निश्चित विभाजन न था।[1] यज्ञ भूमि जोतने का उल्लेख है।[2] पुराणों में कृषि के प्रति धर्मपरक दृष्टि अपनाई गयी है। प्रायः कृषिकार्य गहरी और सघन जुताई के माध्यम से होता था। कालिदास और बाणभट्ट ने भी हल के द्वारा खेत की जुताई का वर्णन अपने कृतियों में किया है। भवभूति ने भी महावीरचरित में हल के अग्रभाग से भूमि को जोतने का उल्लेख किया है। इन्होंने सिचाई के साधन के रूप में बावली,[3] कूप,[4] तडाग[5] और नदियों का नाम लिया है। यहाँ उन्होंने नीवार,[6] तूल,[7] प्रियंग,[8] माष,[9] रसोन,[10] तिल,[11] गौरसषर्व,[12] शाक[13] आदि का बड़ा विस्तार से वर्णन किया है। भवभूति और दण्डी लगभग समकालीन थे। दशकुमारचरित में भी इसी प्रकार अनेक खाद्य सामग्रियों का वर्णन प्राप्त होता है। जिससे पता चलता है कि उस समय इनकी कृषि की जाती थी। वहाँ तण्डुल, [14] दाल, [15] शाक, [16] शक्कर, [17] तेल, [18] आवला, [19] इमली, [20] यव[21] आदि भोज्य सामग्री के रूप में प्रयुक्त हुआ

1. विष्णुपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2063, 1/13/83।
2. वही, 4/5/28।
3. महावीरचरित, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1955, 1/20।
4. मालतीमाधव, चौ.सं.सी. वाराणसी, 1998, 1/5।
5. वही।
6. वही, 1/5, महावीरचरित, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1955, 3/1।
7. वही, 1/25, 4/1।
8. महावीरचरित, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1955, 4/5।
9. मालतीमाधव, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1998, 3/6।
10. वही, 6/45
11. वही, प्रथम अंक।
12. वही, अष्टम अंक।
13. वही, 10/6।
14. उत्तररामचरित, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2004, 4/1।
15. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 355।
16. वही।
17. वही, 354।
18. वही।
19. वही।
20. वही।
21. वही, 381।

है। अतः इनका उत्पादन भी अवश्य रहा होगा। हर्षचरित के अनुसार किसान कुदालों से खोदकर भूमि की पाती तोड़ते हैं। खेत छोटे और दूर-दूर पर स्थित होते हैं।[1] हर्षचरित और कादम्बरी में घंटी यन्त्र (आधुनिक रहट) की सूचना मिलती है।[2] खेत में ऊँचे मचान बनाकर फसलों की रखवाली करने का उल्लेख हर्षचरित से प्राप्त होता है,[3] जो कृषि की रक्षा व्यवस्था को प्रभावित करता है। मूद्राराक्षस में आया है कि चन्द्रगुप्त के शासनकाल में मूर्ख किसान के भी खेत में बीज पड़ने मात्र से फसल लहलहा उठती है। धान के बीजों का गुच्छा बीज बोने वाली की योग्यता की अपेक्षा नहीं करता था।[4] अतः प्राचीनसमय में कृषि की रक्षा, उनकी सिचाई, गुड़ाई-निराई आदि की प्रथा प्रचलित थी, जो उत्तम कृषि विधि को इङ्गित करती हैं।

पशुपालन –

भारतीय समाज की आर्थिकसुदृढ़ता के पीछे कृषि के साथ-साथ पशुपालन का भी विशेष महत्त्व है। वैदिककाल में पशु को एक प्रधान धन माना जाता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि मानव, अश्व और गौ के मांस भक्षी का सिर कुचल दे।[5] इस प्रकार उस समय इन पशुओं का पालन करने का निर्देश दिया गया है। हरिवंशपुराण के एक स्थल पर आया है कि गाय, भैस आदि पशुओं का सङ्ग्रह कर उनका पालन करना चाहिए।[6] यहाँ गाय, भैस, बकरी आदि के दुग्ध का वर्णन मिलता है जो इनके पालन पोषण का ज्ञान कराते हैं।[7] दशकुमारचरित[8] में कपिला गाय का वर्णन प्राप्त होता है जिसे व्याघ्र घायल करना चाहता है लेकिन व्याध (शिकारी) द्वारा गाय की रक्षा की जाती है। वही गोपाल का भी उल्लेख किया गया है जो सम्भवतः कपिला गाय का ही पालक था। दशकुमारचरित में गायों को रहने के लिए गोशाला होता था।[9] वैदिक काल में पशुओं में गाय को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त था।[10] महाभाष्य में

---

1. अग्रवाल वासुदेवशरण, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 2000, पृ. 179।
2. वही, कादम्बरी एक सांस्कृति अध्ययन, पृ. 214, एवं हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 59।
3. वही, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 160।
4. मुद्राराक्षस, चौ.सं.सी. वाराणसी, 1973, 1/3।
5. ऋग्वेद, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1991, 8/4/18।
6. हरिवंश पुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1994, 9/36।
7. वही, 9/30, 14/1, 17/101, 35/5-56।
8. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी 2004, पृ. 26।
9. वही, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 442।
10. ऋग्वेद, चौ.वि.भ. वाराणसी, 1991, 8/4/18।

आया है कि देवदत्त धनी है क्योंकि उसके पास गाय, अश्व और हिरण्य है।[1] आचार्यों व गुरुओं को श्रद्धा-भेट के रूप में गाय ही दी जाती थी।[2] किसी-किसी परिवार के पास तो सहस्त्र गायें होती थी।[3] दशकुमारचरित में बलिष्ठ बैलों को खरीदने का वर्णन आया है जो गाड़ी खीचते थे।[4] महाभाष्य में श्रेष्ठबैल बनने वाले बछड़े को आर्षम्य कहा गया है।[5] अच्छे बैल वह होते हैं जो गाड़ी और हल दोनों खींचने के काम में आते थे।[6] बैल रथ भी खींचते थे।[7] दशकुमारचरित में रथ खींचने का कार्य अश्व करते थे।[8] रथ से राजागण अपनी यात्रा करते थे या युद्ध में जाते थे जिसे अश्व ही खींचते थे।[9] राजा लोग उत्तम हाथी पालते थे। राजा चण्डवर्मा के दरबार में चण्डपोत नामक हाथी सजा हुआ था। उसके गण्डप्रदेश से मदधारा बह रही थी।[10] महाभाष्य में गज को द्विप कहा गया है।[11] गजों का समूह गजता[12] तथा हस्तियों का समूह हस्तिके[13] कहलाता था। जंगली हाथियों को अरण्यगज कहते थे।[14] जंगल से हाथी पकड़कर लाये जाते थे और हस्तिपक उन्हें प्रशिक्षित कर चलना आदि सिखाते थे।[15] विवाह आदि मांगलिक कार्यों में हाथी को आगे रखा जाता था। इनसे युद्ध क्षेत्र में शत्रुसेना को रौदने का भी काम लिया जाता था। राजवाहन को भी हाथी से कुचलवाने का आदेश दिया गया रहता है।[16] दशकुमारचरित में मृग का भी वर्णन प्राप्त होता हैं जो जङ्गल में रहते थे।[17] कुक्कुटों को भी मनोरञ्जनार्थ पाला जाता था।[18] यहाँ

---

1. महाभाष्य, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1998, 1/3/9।
2. वही, 1/4/32।
3. वही, 2/1/51।
4. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी 2004, पृ. 68।
5. वही, 5/3/55।
6. महाभाष्य, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1998, 5/3/55।
7. वही, 2/2/24।
8. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी 2004, पृ. 59।
9. वही, प्रथमोच्छ्वास, पृ. 18।
10. वही, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 117।
11. महाभाष्य, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1998, 3/2/4।
12. वही, 4/2/23।
13. वही, 4/1/1।
14. वही, 4/2/139।
15. वही, 1/3/67।
16. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 117।
17. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 343, 443।
18. वही, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 304-5।

कुत्ते भी पाले जाते थे।[1] सारसपक्षी तालाबों को सुशोभित करती थी।[2] इस प्रकार अनेक पशुपालन-व्यवस्था तत्कालीन समाज में विद्यमान थी।

उद्योगधन्धे –

आर्थिक दृष्टि से उद्योगों का विशेष महत्त्व है। प्राचीन काल से भारत एक प्रमुख निर्माता देश रहा है। यहाँ अनेक प्रकार के उद्योग से ही जनता अपना भरण-पोषण करती है। सिन्धु घाटी सभ्यता कालीन भारत में मृदभाण्ड उद्योग, धातु उद्योग तथा भवन निर्माण उद्योग उन्नत अवस्था में था। मध्यकाल में देश के औद्योगिक विकास ने और गति पकड़ी। धीरे-धीरे अपने यहाँ आवश्यकता की सभी वस्तुओं का निर्माण होने लगा। भारतीय वस्तुओं की विशिष्टता के कारण अन्य देशों के लोग भी यहाँ के ग्राहक हो गये। ढ़ाका के मलमल और छीट की विश्व भर में अत्यधिक मांग थी। भारतीय रेशम की रोम में इतनी अधिक मांग थी कि रोमवासी उसके मूल्य रूप में उन वस्त्रों के भार के बराबर सोना देते थे। इस प्रकार मध्यकाल में भारतीय उद्योग सभी क्षेत्रों में विकास की उन्नत अवस्था में था। साहित्य में उद्योगों के सम्बन्ध में अल्प जानकारी मिलती है लेकिन वस्तुओं के उपयोग का वर्णन प्राप्त होने से यह तथ्य सामने आता है कि इन वस्तुओं का निर्माण भी अपने यहाँ होता था। कवि दण्डी प्रणीत दशकुमारचरित में उद्योग-धन्धे के विषय में स्पष्ट रूप से सूचना नही मिलती है, किन्तु विभिन्न वस्तुओं के विविध उल्लेखों से गृह उद्योगों का अनुमान किया जा सकता है। यहाँ उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर विभिन्न उद्योगों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

वस्त्रोद्योग –

लघु उद्योग के रूप में वस्त्र उद्योग का विशेष महत्त्व है। दशकुमारचरित में अनेक प्रकार के वस्त्रों का वर्णन प्राप्त होता है, जिससे वस्त्र उद्योग की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। यहाँ रेशम, क्षौम, पट्टसूत्र, सन, तसर, कपास, ऊन, चर्म आदि से वस्त्रों का निर्माण होता था। वस्त्रों में रेशमी वस्त्र उत्तम कोटि का माना जाता है। दशकुमारचरित में रेशमी वस्त्र का उल्लेख किया गया है।[3] स्त्रियों का विशेष पहनावा साड़ी होती थी,[4] तथा स्तन को ढ़कने के लिए चोली का निर्माण किया जाता था।[5] जिसे सिलाई द्वारा तैयार किया जाता था। पुरुष वर्ग अपने शरीर को कसने के लिए

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 27।
2. वही, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 394।
3. वही, द्वितीयोच्छ्वास, पृ. 200।
4. वही, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 291।
5. वही, पञ्चमोच्छ्वास, पृ. 299।

मजबूत कच्छा बाँधता था।[1] यहाँ सोने के लिए पलंग आदि पर तोसक-तकिया का वर्णन प्राप्त होता है।[2] इस प्रकार तत्कालीन समाज में वस्त्र उद्योग का विशेष स्थान था। रामायण में भी उल्लिखित है कि रावण की पत्नी सोते समय रेशमी वस्त्रों को धारण करती थी।[3] राजा जनक ने सीता को दहेज रूप में अत्यधिक रेशमी वस्त्रों को दिया था।[4] दशकुमारचरित में चमड़ा से बने वस्त्र का भी संकेत किया गया है। अनन्तवर्मा का सेवक विहारभद्र राजा के त्यागपूर्ण जीवन को कोसते हुए मृगचर्म की बनी लंगोटी धारण करने की बात करता है।[5]

काष्ठ उद्योग –

दशकुमारचरित कालीन भारत में काष्ठ द्वारा अनेक वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। काष्ठ से विशेष प्रकार का जलयान तैयार किया जाता था। काष्ठ निर्मित जलयान से व्यापारिक सामग्रियों को ढ़ोया जाता था।[6] अर्थशास्त्र में काष्ठ जलयान का वर्णन मिलता है।[7] काष्ठ से गाड़ी भी बनाई जाती थी जिसे बैलों द्वारा खींचा जाता था।[8] राज्य में शत्रुओं के पकड़े जाने पर उन्हें काष्ठ निर्मित जंगलेदार पिजड़े में बन्द कर दिया जाता था।[9] आचार्य मनु भी काष्ठोद्योग को महत्त्व दिये हैं। उन्होंने कहा है कि दैनिक जीवन में प्रयुक्त अनेक वस्तु लकड़ी द्वारा निर्मित होती हैं। इनमें हल, ढ़ाल, फावड़ा, रथ, विस्तर, उटगाड़ी, मूसल व अन्य उपयोगी वस्तुए महत्त्वपूर्ण हैं।[10] दशकुमारचरित में काष्ठ रथ का वर्णन आया है जिसे घोड़ा खीचते थे।[11] यहाँ गृहकार्य के रूप में मूसल और औखली का उल्लेख किया गया है, जो काष्ठ निर्मित है।[12] मूसल के ऊपर लोहे की सामी लगी होती थी तथा जो बीच में क्षीण और ऊपर एवं नीचे सम अवयवी होता था, मूसल खदिर की लकड़ी से बनाया जाता था।[13]

1. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 233।
2. वही, पृ. 236।
3. रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2064, श्लोक 5/9/53-54, 5/9/60।
4. वही, 5/1/5।
5. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौअ.भा.प्र. वाराणसी 2004, पृ. 417।
6. वही, चतुर्थोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 64।
7. अर्थशास्त्र,भा.वि.प्र., वाराणसी 1990, 2/28।
8. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी 2004, पृ. 68।
9. वही, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 114।
10. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, उत्तर प्रदेश, 2000, श्लोक 4/46, 5/117, 7/220-222, 8/285, 11/202।
11. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 16, 18।
12. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 351।
13. वही, पृ. 352।

इससे धान से चावल निकालने का कार्य किया जाता था। चावल को पछरोने के लिए सूप का व्यवहार होता था।[1] सूप नरई (कास) आदि द्वारा बनाया जाता है। अतः काष्ठ उद्योग दण्डिकालीन समाज में उन्नत अवस्था में था।

धातु उद्योग –

प्राचीनभारत में धातुओं का विकास बहुत पहले से ही हो चुका था। यजुर्वेद के शतरूद्रि आख्यान में लोहा, शीशा आदि विभिन्न धातुओं का उल्लेख है।[2] प्राचीन काल में अनेक धातुओं का प्रचलन था, जिनमें सोना, चाँदी, तांबा, कांसा, लोहा, टिन आदि धातुओं का उल्लेख मिलता है।[3] दशकुमारचरित में भी अनेक आभूषण एवं विविध सामग्रियों का उल्लेख मिलता है जो धातु निर्मित होती थी। लोहे द्वारा दृढ़तर कवच, धनुष, वाण, जिरह, वदतर आदि बनाये जाते थे।[4] आचार्यमनु ने अपने ग्रन्थ मनुस्मृति में शास्त्र की उन्नत अवस्था का सङ्केत किया है। शास्त्रों में तीर, भाले आदि बनाये जाते थे।[5] दण्डी ने लोहे के अनेक प्रकार की और भी वस्तुओं का उल्लेख किया है। कमर में लोहे का वघनखा लगाया जाता था।[6] मिट्टी खोदने के लिए कुदाल होती थी, जो लौह निर्मित ही होती थी।[7] भोजन आदि बनाने के लिए करछुली का उपयोग होता था जो लोहा या पीतल से बनती हैं।[8] यहाँ अनेक आभूषणों का भी वर्णन आया है। अतः आभूषण का निर्माण भी तत् कालीनसमाज में होता था। दण्डिकालीन समाज आभूषण प्रिय समाज था। वे लोग शारीरिकसौन्दर्य के लिए अनेक प्रकार के आभूषण का प्रयोग करते थे। सोना, चाँदी, हीरा आदि धातुओं से आभूषणों का निर्माण किया जाता था। वे लोग रत्न जड़ित आभूषण धारण करते थे।[9] इसका विक्रय बाजारों में होता था। आभूषण सौन्दर्य के साथ-साथ स्वास्थ्यवर्धक भी माना जाता है। स्वर्णमय आभूषण स्वास्थ्य एवं आयु को बढ़ाता है।[10] कल्हण ने विविध रत्नों के प्रभावों का वर्णन राजतरङ्गिणी में किया है।[11] ज्योतिषशास्त्र में रत्नों को क्रूर

1. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 353।
2. यजुर्वेद, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, 1971, 18/13।
3. अग्निपुराण, चौ.सं.सं. वाराणसी, 1998, 257/29।
4. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, 2000, 3/64, 100।
5. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी 2004, पृ. 59।
6. वही, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 125।
7. वही, सप्तमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 397।
8. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 353।
9. वही, पृ. 329।
10. अथर्ववेद, विश्वेश्वरानन्द, वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर 1960, 19/26/1।
11. राजतरङ्गिणी, चौ.सं.प्र. दिल्ली, वाराणसी, 1985, 4/331।

ग्रहों की शान्ति के लिए धारण करने के निमित्त माना जाता है। आभूषण वैभव का चिह्न भी माना जाता है। अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिए तत्कालीन समाज में लोग इसे धारण करते थे। अन्य संस्कृत ग्रन्थों में भी आभूषणों का उल्लेख मिलता है। शिशुपालवध,[1] अभिज्ञानशाकुन्तल[2] और मृच्छकटिक[3] आदि में भी धातूद्योग के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।

चर्मोद्योग –

संस्कृत साहित्य में चर्म-सम्बन्धी अनेक उल्लेख आये हैं। इनके आधार पर चर्मोद्योग का व्यवहार ज्ञात होता है। चमड़े सम्बन्धी कार्य करने वाले को चर्मकार कहा गया है।[4] ये सात प्रकार के अन्त्यजों में से एक हैं।[5] इसी से इन्हे अछूत रूप में देखा गया है।[6] चर्म के अन्तर्गत मृगचर्म का विशेष महत्त्व है। दशकुमारचरित में मृगचर्म का वर्णन किया गया है।[7] मृगचर्म का यहाँ वस्त्र रूप में उल्लेख आया है। तत्कालीन समाज में चमड़े का व्यापार भी होता था। विश्रुत से जो बहेलिया मिला था वह बाघ के चमड़े से बनी पिटारी का माहिष्मती में विक्रय कर लौटा था।[8] यहाँ चमड़े की भाथी बनाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[9] इन विविध तथ्यों से ज्ञात होता है कि चर्मोद्योग अपने विकास में संलग्न था।

तैलोद्योग –

दशकुमारचरित में विविध अन्नों से तैल का निर्माण किया जाता था। तिल के तैल का यहाँ उल्लेख किया गया है।[10] तिलों की पेराई की जाती थी। जिससे विविध व्यञ्जनों को बनाया जाता था। इङ्गुदी का तैल घाव आदि पर लगाया जाता था।[11] अभिज्ञानशाकुन्तल में भी कालिदास ने हिरण के घाव पर हिंगोट का तैल लगाने का उल्लेख किया है।[12] सामान्य रूप से तैल का प्रयोग भोजन निर्माण में ही किया जाता था। जिससे भोजन स्वादयुक्त एवं स्वास्थ्यप्रद रहे।

1. शिशुपालवधम्, चौ.सं.भ., वाराणसी, 1998, 7/45।
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, अंक 1।
3. मृच्छकटिक, साहित्य भण्डार, मेरठ, 5/35।
4. स्कन्दपुराण, आनन्द आश्रम मुद्रणालय, पूना, 1924, 6/27/45।
5. नारदपुराण पूर्व, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1990, 30/79-80।
6. स्कन्दपुराण, आनन्द आश्रम मुद्रणालय, पूना, 1924, 6/27/49।
7. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरगीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी 2004, पृ. 417।
8. वही, पृ. 444।
9. वही, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 167।
10. वही, सप्तमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 403।
11. वही, षष्ठोच्छ्वास, पृ. 343।
12. अभिज्ञानशाकुन्तल, कृ.दा.अ. वाराणसी, 1991, पृ. 4/14।

भाण्डोद्योग –

मिट्टी से बनाया जाने वाला भाण्ड निर्माण एक प्रमुख उद्योग है।[1] भाण्ड निर्माताओं को कुलाल अथवा चक्रोवजीविन कहा गया है क्योंकि ये चक्र द्वारा भाण्डों का निर्माण कर अपनी जीविका चलाते हैं।[2] प्रचलित भाषा में ये कुम्भकार कहे जाते हैं। दशकुमारचरित में भाण्ड निर्माण का वर्णन मिलता है। यहाँ शक्तिकुमार द्वारा दिये गये धान से कन्या की माता हड़िया और दो मिट्टी के ढक्कन को खरीद ले आती है। जिसमें भोजन बनाया जाता है।[3] आचार्यमनु ने भी मिट्टी के बर्तन का उल्लेख किया हैं।[4] मिट्टी के बर्तन में पका भोजन उत्तमस्वाद युक्त होता है। मिट्टी के वर्तनों का क्रय-विक्रय किया जाता था।

मालोद्योग –

दशकुमारचरित में स्वर्ण और रत्नों के अतिरिक्त पुष्पों एवं पल्लवों से भी आभूषण बनाये जाने का उल्लेख है। ये आभूषण माली द्वारा बनाये जाते थे और इसी से ये अपनी जीविका चलाते थे। दशकुमारचरित में अनेक स्थानों पर पुष्पों के माला का वर्णन किया है।[5] आश्रम में काममञ्जरी शिवपुजन के लिए माला की व्यवस्था करती है।[6] विष्णुपुराण में उल्लेख है कि कृष्ण और बलराम को उनकी रूचि के अनुसार पुष्प आदि देकर माली-मालिनों ने उनसे वरदान प्राप्त किये।[7] मुद्राराक्षस में माला गुथने का उल्लेख किया गया है।[8] माली पुष्पों एवं पल्लवों से विविध प्रकार के आभूषण बनाता था। माली के इस कार्य को उद्योग रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

सूरा उद्योग –

सूरा निर्माण भी एक प्रमुख उद्योग है। संस्कृतसाहित्य में यत्र-तत्र मिले उदाहरण मदिरा (सूरा) निर्माण पर प्रकाश डालते हैं। दशकुमारचरित में सेवक विहारभद्र मदिरापान का विधिवत् उल्लेख किया है।[9] ऋग्वेद में भी सूरापान का वर्णन किया गया है।[10]

---

1. मार्कण्डेय पुराण, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1983, 12/15-16, 39/116।
2. वही, 12/19।
3. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 352।
4. मनुस्मृति,सं.सं., बरेली, 8/289।
5. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 412।
6. वही, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 139।
7. विष्णुपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2063, 5/19/17, 2/19/23।
8. मुद्राराक्षस, चौ.सं.सी., वाराणसी, 1973, 1/4।
9. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 432-33।
10. ऋग्वेद, चौ.वि.भ. 1991, 7/86/6।

पौराणिकसाहित्यों में भी सूरापान प्रचलित था। श्रीमद्भागवत् पुराण में इसे आसव कहा गया है। यह स्वाद में मधुर होता है। मधुरता के लिए इसमें गुड़, शहद, आदि का प्रयोग किया जाता था। स्वप्नवासवदत्ता एवं शिशुपालवध में भी मदिरापान की लोकप्रियता दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार सूरोद्योग प्राचीनसमय में विद्यमान था। जिसका विक्रय कर लोग अपनी आजीविका चलाते थे।

व्यापार एवं वाणिज्य –

आर्थिक-जीवन के अन्तर्गत व्यापार एवं वाणिज्य का अति महत्वपूर्ण स्थान है। इससे मानव अनेक प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय करके आर्थिक विकास में अपना स्थान सुनिश्चित करता है। प्राचीनभारत में मनुष्य के प्रथम निवास में कृषि कर्म का विकास हुआ। इसके पश्चात् मनुष्य की दैनिक आवश्यकताए बढ़ती गयीं और कुछ समय बाद उसके लिए स्वतः सब वस्तुओं की क्रमशः पूर्ति कर पाना दुष्कर हो गया। आवश्यकताओं के अनुरूप समाज में भिन्न प्रकार के कार्यों को संपादित करने की क्षमता बढ़ी। इसी परिवेश में आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य व्यापार एवं वाणिज्य की सहज प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।[1]

प्राचीन समय से ही व्यापारियों को वाणिज्य,[2] श्रेष्ठी,[3] नैगम[4] आदि अभिधानों से सम्बोधित किंया जाता रहा है। मुख्य रूप से युवक व्यापार करते थे। वे ही देशान्तरों में व्यापार का सम्पादन करके अपने वैभव का विस्तार किये।[5] व्यापारियों का पृथक्-पृथक् समुदाय होता था जिनका प्रथम सार्थवाह कहलाता था।[6] दशकुमारचरित में भी सार्थवाह नामक धनीव्यापारी का वर्णन आया है।[7] दण्डी ने दशकुमारचरित में वणिक समुदाय, व्यापारिक केन्द्र एवं जहाज व्यापारियों आदि का उल्लेख कर तत्कालीन समय की व्यापार एवं वाणिज्य व्यवस्था का मात्र सङ्केत किया है। फिर भी उपर्युक्त सङ्केतो से उनके समय की व्यापारिक समुन्नति की सहज कल्पना की जा सकती है।

व्यापारिक केन्द्र –

दण्डिकालीन समाज में वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए बाजार आदि की व्यवस्था थी जिसे व्यापारिक केन्द्र के रूप में जाना जा सकता है। दशकुमारचरित

1. श्रीमद्भागवतपुराणं, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2062, 5/1/33।
2. मृच्छकटिकम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, अंक 2।
3. चारूदत्त अंक 4।
4. विक्रमोर्वशीयम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1984, 4/13।
5. मृच्छकटिकम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, अंक 2।
6. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1991, अंक छः।
7. दशकुमारचरित्, तृतीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 250।

के प्रारम्भ में पुष्पपुर का वर्णन किया गया है जहाँ दुकानों पर रत्नादि के फैलाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] श्रावस्ती राज्य के मार्ग में भी वणिकों की एक विशाल नगर की सम्प्राप्ति होती है जहाँ मनोरञ्जन के लिए कुक्कुटों का युद्ध होता था।[2] यहाँ एक वलभी नगर का भी वर्णन किया गया है जहाँ जहाज के व्यापारियों का मुखिया रहता था।[3] यहाँ खेटकपुर का भी वर्णन मिलता है। जहाँ अनेक व्यापारियों के साथ बलभद्र निवास करता था।[4] इन नगरों में आवश्यकता की सभी सामग्रियाँ उपलब्ध रहा करती थी।

व्यापार करने के लिए बैलगाड़ी की व्यवस्था होती थी।[5] जिससे व्यापारीगण अपने सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया करते थे। तत्कालीन समाज में अन्तर्देशीयव्यापार भी हुआ करते थे। यहाँ यवन आदि नौका या जहाज से व्यापार के निमित्त आते थे।[6] महावीरचरित में प्रहस्त रावण से कहता है कि मानव बालक ने अपने छोटे भाई के साथ तुम्हारी लङ्कापुरी पर घेरा डाल दिया है, जिससे मित्रों से प्राप्त होने वाली सहायता तथा खाद्यान्न सामग्रियों का आना भी रूक गया है।[7] अतः इससे स्पष्ट है कि कवि के समय आवश्यक वस्तुओं का आयात-निर्यात भी किया जाता था। दशकुमारचरित में चीनांशुकवस्त्र का वर्णन आया है जो सम्भवतः चीनदेश मंगाया जाता था।[8] मालतीमाधव[9] एवं अभिज्ञानशाकुन्तल[10] में भी चीनांशुकवस्त्र का उल्लेख प्राप्त होता है।

विनिमयप्रणाली –

उस समय वस्तुविनिमय एवं द्रव्यविनिमय दोनों के ही प्रचलित होने का उल्लेख दशकुमारचरित में प्राप्त होता है। वस्तु को बेचकर प्राप्त पैसा से समान खरीदने का उल्लेख यहाँ गोमिनी की कथा से प्राप्त होती है।[11] दशकुमारचरित में दीनार,[12] कौणी,[13]

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 4।
2. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 304।
3. वही, पृ. 358।
4. वही, पृ. 364।
5. वही, चतुर्थोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 68।
6. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 336।
7. महावीरचरित, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1955, 6/5।
8. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 200।
9. मालतीमाध, चौ.सं.सी., वाराणसी, 1998, 6/5।
10. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1991, 34/1।
11. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 352-54।
12. वही, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, मो.ला.व.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 36।
13. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 352।

मूद्रा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ एक काकणी से क्रीत वस्तु को काकणीक तथा डेढ़ काकणीक से क्रीत वस्तु को अध्यर्द्धकाकणीक कहा गया है। यह प्रणाली पाणिनि के समय प्रचलित नही थी।[1]

सामग्री –

दशकुमारचरित में अनेक प्रकार की दैनिकप्रयोग की सामग्रियों का वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ अनेक प्रकार के अन्नों के साथ-साथ शाक-सब्जी, तेल, मसाला आदि को भी खरीदने का उल्लेख मिलता है।[2] कर्पूर[3] का वर्णन हवन आदि सामग्री के रूप में आया है जो निश्चित रूप से खरीदा जाता था। यहाँ रत्न, हीरा, मोती का भी वर्णन प्राप्त होता है।[4]

❑❑❑

---

1. पतञ्जलिकालीन भारत, पृ. 359।
2. दशकुमारचरिम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 352।
3. वही, तृतीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 242।
4. वही, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 4।

अध्याय-६

राजनीतिक-जीवन

प्राचीनकाल से ही संसार के सभी देशों में राजतन्त्रात्मक व्यवस्था विद्यमान रही है। इसी व्यवस्था के अन्तर्गत देश या राज्य के विकास का कार्य किया जाता था। स्वभाव से मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है। संसार का यही एक ऐसा प्राणी है जो नगरों में रहता है और अपने नियमों को प्रत्यर्पित करता है तथा विज्ञान, कला, धर्म एवं सभ्यता के विभिन्न पक्षों की सृष्टि करता है।[1] मनुष्य ही एक व्यवस्था को जन्म देता है। जिसके द्वारा सबकी सुरक्षा एवं शान्ति व्यवस्था की जाती है। यही व्यवस्था शनैः शनैः राजा के स्वरूप में परिणत हुई।

राजा द्वारा सञ्चालित शासनव्यवस्था का अस्तित्व वैदिक साहित्य से संज्ञान में आता है। वैदिकजीवन में बहुशः परिवार (कुल) मिलकर एक विस (सामाजिक संगठन) और बहुत से विस मिलकर एक जन का निर्माण करते थे। कुल का जो अधिपति होता था उसे कुलपति कहा जाता था। कुलपति के गुण, शौर्य और नेतृत्त्व क्षमता के कारण विसपति कहा जाने लगा और विसपति से जनपति का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] जनपति का यही स्वरूप क्रमशः जनपद का स्वरूप प्राप्त किया। धीरे-धीरे कई जनपद मिलकर महाजनपद और पुनः राज्य बने। राज्य का अधिपति राजा कहा जाने लगा। वही राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का सर्वोच्च अधिकारी होता था। अर्थशास्त्र में प्रजापालन के लिए राजा को आवश्यक बताया गया है।[3] अतः राज्य की वर्तमानता आवश्यक प्रतीत होती है।

राज्य –

दशकुमारचरित में अनेक राज्यों पुष्पपुर,[4] काञ्ची,[5] काशी,[6] अंग,[7] अश्मक,[8]

---

1. सेबाइन जी.एच., ए हिस्ट्री आफ पोलिटिक्स थियरी, लन्दन, पृ. 112।
2. यादव डॉ. झिनकू, समराइच्चकहा- एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी,1977, पृ.46।
3. अर्थशास्त्र 1/13।
4. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी,2004, पृ. 4।
5. अवन्तीसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ.6, 17।
6. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी,2004, पृ. 257।
7. वही, चतुर्थोच्छ्वास, पृ. 129।
8. वही, अष्टमोच्छ्वास, पृ. 426।

कलिङ्ग,[1] कौशल,[2] मगध,[3] मालवा,[4] मुरला,[5] शूरसेन[6] आदि राज्यों का अस्तित्व संप्राप्त होता है जिसका सञ्चालक एक राजा होता था। राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौता के सिद्धान्त के साथ-साथ विशेष रूप से दैवीसिद्धान्त के आधार पर मानी जाती थी। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था, उसका अनादर ईश्वर का अनादर समझा जाता था। 'दशकुमारचरित' में विश्रुत ने राजकुमार भाष्करवर्मा को दुर्गा का प्रतिनिधि बताया है। वस्तुतः राजकुमार को दुर्गा का प्रतिनिधि बताना उसकी राजनीतिक समझ की ओर इङ्गित करता है। वह समाज में अफवाह फैला देता है जिससे राज्य के लोग दुर्गा का आदेश समझे और राजकुमार दैवीप्रतिनिधि के रूप में कार्य करें।[7] राजा भी प्रजा पर पुत्रवत स्नेह रखता था। महाभारत[8] में ऐसे ही राज्य की सङ्कल्पना की गयी है, जहाँ न राजा था, न राज्य, न दण्ड था न दाण्डिक। प्रजा परस्पर धर्मपूर्वक एक दूसरे की रक्षा करती थी। यह व्यवस्था अत्यधिक समय तक विद्यमान थी। अनन्तर धीरे-धीरे मनुष्यों के नैतिकगुणों का ह्रास होता गया। उनमें अनैतिकता और कदाचार भर गया। इस प्रकार समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाने पर मनुष्यों ने ब्रह्मदेव से प्रार्थना की और ब्रह्मदेव ने मनुष्य समाज से उत्पन्न अव्यवस्था को दूर करने के लिए राजा द्वारा संचालित एक आचारसंहिता का निर्माण किया। तदनन्तर ब्रह्मदेव ने विराज नामक अयोनिज पुत्र को उत्पन्न किया और उसको राजा बनाया।[9] इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक दैवी संस्था है। बौद्धपरम्परा[10] में इसी प्रकार सर्वप्रथम एक आदर्श समाज का उल्लेख प्राप्त होता है। बौद्ध अनिश्वरवादी थे। अतः ब्रह्मा के स्थान पर महाजन सम्मत नामक एक अयोनिज पुरुष का आविर्भाव हुआ जो प्रजा की प्रार्थना पर राजा बनना स्वीकार किया। 'वाइबिल' के अनुसार भी राज्य एक दैवी संस्था है। वाइबिल में कहा गया है कि हर एक व्यक्ति प्रधान अधिकारियों के अधीन है क्योंकि कोई अधिकार ऐसा नही है जो न परमेश्वर के ठहराए

---

1. दशकुमारचरितम्, मो.ला.व.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 213।
2. वही, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 301, 2,4।
3. वही, पृ. 4, 8, 16।
4. वही, 13, 214।
5. वही, मो.ला.व.दा. दिल्ली, 1993, पृ. 265।
6. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 366।
7. वही, अष्टमोच्छ्वास, पृ. 453।
8. महाभारत, परिमल पब्लिकेशन, देलही, 2001, शांतिपर्व, 59/14-16।
9. वही, पृ. 59/88।
10. अल्तेकर ए.एस., स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्सिएन्ट इण्डिया, देलही 1958, पृ. 84-86।

हुए है। अतः जो व्यक्ति इस अधिकार का विरोध अथवा उल्लङ्घन करता है वह ईश्वर के विधान का उल्लङ्घन करता है, अतः वह दण्ड का भागी है।[1]

इस प्रकार दैवीउत्पत्ति का सिद्धान्त ईश्वर रूप में राजा को प्रतिष्ठित करता है। क्योंकि ईश्वरांश ही ईश्वर का स्वरूप माना जाता है। संसार के सभी प्राणी ईश्वर के अंश ही हैं। इस संसार में ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नही है। अतः राज्य एक दैवी संस्था है।

राज्य की शक्तियाँ –

दशकुमारचरित में दण्डी ने राज्य की शक्तियों का उल्लेख किया है[2] जिसके कारण एक सुदृढ़ राज्य का निर्माण हो सकता है। राज्य तीन शक्तियों के बल पर स्थित होता है- मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति और प्रभावशक्ति। ये शक्तियाँ परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित होकर कार्य किया करती हैं। मन्त्रशक्ति से कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। प्रभावशक्ति से (सामर्थ्य से) कार्य में प्रवृत्ति होती है और उत्साह से कार्य की सिद्धि होती है। सहाय, साधन, उपाय, देश-काल के विभाग और आपत्ति का निराकरण ये ही पञ्चाङ्ग कहे जाते हैं। ये पांच अङ्ग नीति रूप वृक्ष की जड़े (मूलभाग) हैं। उस वृक्ष के स्कन्ददेश कोष और दण्ड प्रभाव मारने जाते हैं। धन के अतिशय स्थिर प्रयत्न के कर्त्तव्य को उत्साह कहते हैं। साम, दाम, भेद, दण्ड ये चार गुण उस वृक्ष के उपाय हैं। शाखा स्थानीय है। स्वामी, सचिव, सुहृद, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, सेना, पुरवासी आदि आठ भेद-उपभेद से उस नीति के 72 पत्ते होते हैं। सन्धि-विग्रह-यान द्वैध और समाश्रय प्रभृति उस वृक्ष रूपी राज्य के पल्लव हैं। प्रभाव, उत्साह, मन्त्र तथा इनकी सिद्धियाँ उस वृक्ष में सुन्दर एवं पवित्र फल माने गये हैं। राज्य का यह स्वरूप एवं शक्तियाँ सर्वदा सब राजाओं के उपकार योग्य है। किसी राजा एवं राज्य के लिए ये सब अपरिहार्य अङ्ग माने जाते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्त –

दण्डिकालीन समाज में राजनीतिक तथ्यों तथा समसामयिक व्यवस्था के मुख्य स्रोत अर्थशास्त्र, मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति हैं।[3] इन ग्रन्थों के आधार पर ही राजनीतिकव्यवस्था कुछ परिवर्तन के साथ 'दशकुमारचरित' में दृष्टिगोचर होती है। राजनीतिक मूल्यों का भी यहाँ विशेष वर्णन प्राप्त होता है। इन मूल्यों की अनभिज्ञता

---

1. शर्मा, डॉ. जवाहरलाल, श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. 185।
2. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 454-55।
3. वही, पृ. 413।

राज्य के लिए संकट उत्पन्न कर सकती है। राजा की प्रतिभा अर्थशास्त्र के तत्त्वान्वेषण में सफल होनी चाहिए।[1] धर्मशास्त्र रूपी दीपक के प्रकाश में चलने से राजा-प्रजा का जीवन बड़ा ही सुखमय व्यतीत होता है। धर्मशास्त्र दिव्यदृष्टि के समान है। जो दृष्टि वर्तमान, भूत और भविष्य तथा अनागत वश न दिखायी देने वाले सभी पदार्थों तक अप्रतिहत गति से पहुँच जाती है।[2] हमारे धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों को ही मुख्य आधार बनाकर कवि ने अनेक राजनीतिक सिद्धान्तों का सम्वर्धन किया है। स्थल-स्थल पर रामायण, महाभारत एवं पुराणों का उदाहरण देकर कवि अपने तथ्यों को प्रमाणित करता हुआ पाठको के अन्तश्चेतना को चमत्कृरित करता है।

प्राचीन समय से ही शासन व्यवस्था राजतन्त्रात्मक रही है। राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के मुख्य आधार धर्मशास्त्र एवं साहित्य होते थे। दशकुमारचरित के उत्तरपीठिका अष्टम् उच्छ्वास में अनेक राजनीतिक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। वहाँ राजा के स्वरूप एवं कर्त्तव्य को बड़े ही रूचिकर रूप से प्रस्तुत किया गया है तथा यह भी बताया गया है कि राजा द्वारा यथोचित सिद्धान्तों का पालन न करने पर राज्य की कितनी भयानक स्थिति हो जाती है।[3] दशकुमारचरित में समाज का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। तत्कालीन समाज में शासन व्यवस्था का आधार राजतन्त्र विज्ञान ही था। जिसका अध्ययन संसार के भौतिक स्वरूप के लिए अनिवार्य है, विशेषकर शासकों के लिए। अनन्तवर्मा को राजगद्दी पर बैठते ही वसुरक्षित उसमें नैतिक मूल्यों को भरने के उद्देश्य से उपदेशित करता है। इसके बिना मनुष्य उसी प्रकार है जैसे अग्नि में बिना तपा हुआ सुवर्ण शोभाहीन रहता है।[4] वसुरक्षित राज्यतन्त्र विज्ञान के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए संसार की सभी विद्याओं का त्याग कर केवल दण्डनीति के विज्ञान में पारंगत होने की प्रेरणा प्रदान किया है।[5] तत्कालीन शासन-व्यवस्था में अर्थशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान दशकुमारचरित में प्रतिपादित किया गया है। उसी के आधार पर सम्पूर्ण राज्य कार्य सम्पन्न किया जाता था।

राज्य में अराजकता के भय से समाज को एक शक्ति सम्पन्न राज्य की महती आवश्यकता का अनुभव हुआ, जो उनके परिवार एवं सम्पत्ति की रक्षा कर सके। विष्णुपुराण के एक आख्यान में कहा गया है कि भगवान की निन्दा आदि करने के

---

1. दशकुमारचरित, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 414।
2. वही- आगमदीपदृष्टेन खल्वध्वना सुखेन वर्तते लोक यात्रा। दिव्यं हि चक्षर्भूतभवद्भविष्यत्सु व्यवहितविप्रकृष्टादिषु च विषयेषु शास्त्रं नामाप्रतिहतवृत्ति।
3. वही, पृ. 434-35।
4. वही, पृ. 414 – अनग्निसंशाधितेव हेमजातर्नातिभाति बुद्धिः।
5. वही, पृ. 416 – अतो विहाय वाङ्मविद्यास्वभिषङ्गभागमय दण्डनीति कुलविद्यां तदर्थानुष्ठानेन चावर्जितशक्तिसिद्धिरस्खलितशासनः शाधि चिरमुदधिमेखलामुर्वीम्, इति।

कारण मुनिगणों ने जब पापी राजा वेन को मार दिया तब उन मुनिश्वरों ने सर्वत्र धूल उड़ती देखे तो निकटवर्ती पुरुषों ने उनसे कहा राष्ट्र के राजा विहीन हो जाने के कारण दीन लोगों ने चोर बनकर दूसरों का धन लूटना आरम्भ कर दिया, उनपर धनापहारि चोरों के उत्पात्त से यही बड़ी भारी धूल उड़ती हुई दृष्टिगोचर हो रही है।[1] लोक में व्यवस्था बनाये रखने के लिए राजा की आवश्यकता अनुभव सिद्ध है। राजा की आवश्यकता में सामाजिक जीवन की सुरक्षा का भार निहित है। संसार में सबकी सुरक्षा का भार राजा के ऊपर ही होता है। वही राज्य की गतिविधियों का समन्वयक होता है और राज्य में प्रजा के सुख-शान्ति के लिए अनेक नियमों का सृजन करता है।

राजा –

रञ्जयति इति राजा, रञ्ज् धातु से कनिन् प्रत्यय के योग से राजन् शब्द की निष्पत्ति होती है।[2] जिसका अर्थ राजा, शासक, युवराज, मुखिया या सरदार होता है। राजा ही राज्य का स्वामी होता है उसी के आज्ञानुसार सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था सञ्चालित होती है। दण्डी अनेक आदर्श राजाओं की सङ्कल्पना किये हैं। मगधेश्वर राजहंस, काञ्ची के सिंहविष्णु, विदर्भ के पुण्यवर्मा तथा विश्रुत आदि आदर्श राजा के उत्तम उदाहरण के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे विचार और हृदय से अत्यन्त शसक्त हैं। कर्त्तव्य पालन ही उनका आदर्श है। 'दशकुमारचरित' में पुण्यवर्मा के गुणों का अङ्कन करते हुए दण्डी ने राजा के आदर्श स्वरूप का परिचय दिया है- 'पुण्यवर्मा धर्म का अवतार अर्थात् सभी कार्य धर्मानुसार करता था। सत्यवादी, अप्रमेय, बलिष्ठ, विनय-मानव सम्पन्न, दानी, प्रजा- पालक, यशस्वी, अपने दासों को प्रसन्न रखने वाला उन्नतिशील शास्त्र पर श्रद्धा रखने वाला, अपनी बुद्धि तथा शरीर द्वारा प्रजा की निरन्तर उन्नति करने वाला, विद्वानों की पूजा करने वाला, सेवको का प्रभाव वर्धक बन्धुओं की सहायता करने वाला तथा शत्रुओं का दमन करने वाले आदि गुणों से मण्डित था[3] जो एक

1. विष्णुपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, 2063, 1/13/31-32।
2. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, दिल्ली, वाराणसी, 1954, पृ. 852।
3. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 412-13 – विदर्भो नाम जनपदः तस्मिन्भोजवंशभूषणम्, अंशावतार इव धर्मस्य, अतिसत्त्वः, सत्यवादी, वदान्यः, विनीता प्रजानाम्, रञ्जितभृत्यः, कीर्तिमान, उदग्रः वुद्धिमूतिभ्यामुत्थानशीलः शास्त्रप्रमाणकः शक्यभव्यकल्पारम्भी, संभावयिता वुधान, प्रभावयिता सेवकान् उद्भवयिता वन्धून, न्यग्भावयिता शत्रून, असंबद्धप्रलापेष्वदत्तकर्णः, कदाचिद-प्यवितृष्णो गुणेषु, अतिनदीष्णः कलासु, नेदिष्ठो धर्मार्थसंहितासु स्वलेऽपि सुकृते सुतरां प्रत्युपकर्त्ता, प्रत्यवेक्षिताकोशवाहनयोः यत्नेन परीक्षिता सर्वाध्यक्षाणाम्, उत्साहयिता कुतकर्मणामनुरूपैर्दानमानैः वामनुरूपैर्दानमानैः सद्यः प्रतिकर्त्ता दैवमानुषीणामापदाम्, षाड्गुण्योपयोगनिपुणः, मनुमार्गेण प्रणेता चातुर्वर्ण्यस्य पुण्यश्लोकः पुण्यवर्मा नामासीत।

आदर्शराजा एवं राज्य के लिए परमावश्यक है। राजा ही राज्य का भाग्यविधायक है। लोक-कल्याण ही उसका ध्येय होता है। उत्तररामचरित में भवभूति ने ठीक ही कहा है कि प्रेम, दया, सुख या फिर जानकी को भी लोक-कल्याण के निमित्त छोड़ने में राम को कोई कष्ट नही है।[1] राज्य के प्रति राजा को एक क्षण भी असावधानी नही बरतनी चाहिए।[2] नीतिहीन राजा से प्रजा प्रसन्न नही रहती है।[3] अतः राजा के नैतिक पतन से राज्य का पतन निश्चित है। अनन्तवर्मा के स्वेच्छाचारी एवं विलासी होने के कारण सम्पूर्ण राज्य में घोर अत्याचार, लूट-पाट, अनैतिक आचार-विचार की तीव्र गति से वृद्धि हो गयी।[4] राज्य में अव्यवस्था का जन्म हो गया। राजा से प्रजा भयरहित हो स्वैच्छिक हो गयी। राजा उन्हें दण्ड देने में असमर्थ हो गया।[5] राजा का धर्म है बन्धु हो अथवा अबन्धु हो, जो भी दुष्ट कर्म करे उसे दण्ड देना।[6] राजा को शत्रु का वध और मित्र का रक्षण करना चाहिए।[7] राजा के विवेकज्ञान पर भी दण्डी ध्यान दिये हैं वे 'विकटवर्मा' को कहते हैं, पशु के समान अविवेकी राजा की मृत्यु समीप होती है।[8] इस प्रकार दण्डी राजा के उत्तम और अनुत्तम कार्यों का उल्लेख एवं परिणाम को बताकर सदैव नैतिक एवं लोक-कल्याण की ओर ध्यानाकृष्ट किये हैं। राजा ही राज्य की धुरी होता है। डॉ. अल्तेकर[9] के अनुसार प्राचीन भारतीयों का विश्वास था कि राजा का आविर्भाव सैनिक आवश्यकता के कारण हुआ। राजा एक कुशल सेनानायक होता है जिसका नेतृत्व सभी लोगों को स्वीकार होता है। श्रीमद्भागवतपुराण के अनुसार किसी आक्रमण आदि के कारण से राजा की अधिक आवश्यकता राज्य की आन्तरिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने के लिए होती है।[10] आचार्यकौटिल्य का मन्तव्य है कि राजा का प्रथमतः कर्त्तव्य प्रजा को प्रसन्न रखना है। प्रजा ही राजा का सब कुछ है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान को प्रजा के कल्याण में ही लगाता है। ईश्वर का वह प्रतिनिधि होता है।[11] ऐतरेयब्राह्मण में राजा की सैनिक आवश्यकता पर बल दिया

1. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2004, 1/12।
2. प्रतिमानाटकम्, चौ.सं.सं., वाराणसी, 1998, अंक 4।
3. किरातार्जुनीयम्, चौ.सं.सी. वाराणसी, 1986, 2/4।
4. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 435-139।
5. वही, पृ. 435।
6. वही, चतुर्थोच्छ्वास, पृ. 274।
7. वही, तृतीयोच्छ्वास, पृ. 255।
8. वही, पृ. 246।
9. अल्तेकर ए.एस., स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट एन्सिएन्ट इण्डिया, देलही, 1998, पृ.46।
10. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2062, 1/14/16-17।
11. अर्थशास्त्र, चौ.वि.भ., वाराणसी, 2006, 1/14/18।

गया है।[1] इस प्रकार राजा ईश्वर के प्रतिनिधि के साथ-साथ राज्य का सर्वोच्च सैनिक होता है जो राज्य की व्यवस्था का व्यवस्थापक रूप में स्वीकार्य था।

अमात्य –

राज्य कार्य के सञ्चालन में राजा को परामर्श देने वाला अमात्य होता है। वह अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि का तत्क्षण निर्णय लेने में समर्थ होता है। 'दशकुमारचरित' काल में राज्य मन्त्रियों का स्थान गौरवपूर्ण था। वे राज्य एवं राजा के परम शुभचिन्तक होते थे। पुष्पपुरी में राजहंस के साथ धर्मपाल, पद्मोद्भव और सितवर्मा नाम के तीन कुल मन्त्री थे जो परम विनीत अपनी गम्भीर बुद्धि से सुर गुरू को भी विचारणीय कार्य साहित्य में अनादृत करने वाले थे।[2] सितवर्मा के पुत्र सुमति धर्मपाल के पुत्र सुमन्त और सुमित्र तथा पद्मोद्भव के पुत्र सुश्रुत आदि भी अपने पिताओं की मृत्यु के पश्चात् अपने-अपने पिता के स्थान पर कार्य करने लगे।[3] सभी मन्त्रियों के अलग-अलग विभाग होते थे। वे अपने विभाग के प्रति पूर्णरूप से जिम्मेदार माने जाते थे। यहाँ अनेक राजाओं मन्त्रियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है- जैसे दर्पसार का अमात्य दारूवर्मा,[4] पुण्यवर्मा और अनन्तवर्मा के मन्त्री वसुरक्षित[5] आदि। वसुरक्षित अनन्तवर्मा को राज्य को अनुशासित करने के लिए अनेक प्रकार से उपदेशित करता है।[6] राज्य में आई आपत्ति पर मन्त्री राजा को उचित-अनुचित परामर्श देते थे, जब मानसार मगध पर आक्रमण करता है तो वह शङ्कर की अमोघ शक्ति से युक्त था इसलिए मन्त्रियों ने विचार-विनिमय कर महाराज राजहंस से निवेदित किया- हे देव! जिसमें मनुष्य के सभी उपाय विफल है ऐसे प्रबल यत्न से अर्थात् शङ्कर जी की गदा के प्रमाद से शत्रु युद्ध करने आ रहा है। अतः ऐसे समय में उसके साथ हमारा युद्ध करना निष्फल होगा। ऐसे समय में दुर्ग का ही आश्रयण सर्वथा श्रेयस्कर होगा।[7] लेकिन राजा नही माने फलस्वरूप असफलता का वरण करना पड़ा। विकटवर्मा अपने शरीर परिवर्तन के सम्बन्ध में मन्त्रियों से सलाह लेता है।[8] इस प्रकार राजा राज्य के साथ-साथ अपने व्यक्तिगत समस्याओं पर भी मन्त्री से विचार-विमर्श करते थे। अनन्तवर्मा जब मन्त्रियों

---

1. ऐतरेयब्राह्मण, आनन्द आश्रम, पूना, 1930, 1/14।
2. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 8।
3. वही, पृ. 9।
4. वही, चतुर्थोच्छ्वास, पृ. 74।
5. वही, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 414।
6. वही, पृ. 416।
7. वही, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 14।
8. वही, तृतीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 245।

की बात को अनसूना कर स्वेच्छाचारी बन जाता है तो राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी।[1] अतः भारवि ने ठीक ही कहा है राजा मन्त्री के अनुकूल होने पर ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती है।[2] इससे स्पष्ट है कि राजा और मन्त्री का विचार- विनिमय अनिवार्य है।

सैन्यव्यवस्था –

राज्य कार्य को चलाने के लिए सैन्यव्यवस्था की अत्यन्त आवश्यकता होती है। सैन्यनीति अप्राप्त वस्तु को प्राप्त कर देती है, जो प्राप्त हो चुका है उसकी रक्षा करती है। यह रक्षित वस्तु को बढ़ाती है और बढ़ी हुई वस्तु का उपयुक्त पात्र में उपयोग करती है। सैन्यव्यवस्था को दण्डव्यवस्था भी कहा जाता है। लोकयात्रा (व्यवस्था) सैन्यव्यवस्था पर ही अवलम्बित होती है। अतएव जो राजा लोक यात्रा का निर्माण करने में तत्पर हो उसे चाहिए कि सदा सैन्यव्यवस्था का उपयोग करने में उद्यत रहे।[3] सैन्य व्यवस्था को सुचारू रूप से क्रियान्वित करने के लिए सेना की महती आवश्यकता होती है। 'दशकुमारचरित' में चतुरङ्गिणी सेना का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] राजा अनन्तवर्मा के राज्य में दश सहस्र हाथी, तीन व्याघ्र, घोड़े और असङ्ख्य पैदल सेनाएं थी।[5] चतुरङ्गिणी सेना के अन्तर्गत निम्नलिखित सेनाए आती हैं-

1- हस्तिसेना
2- अश्वसेना
3- रथसेना
4- पैदलसेना

हस्तिसेना –

कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार अपनी सेना के आगे चलना, नये मार्ग, निवास स्थान तथा घटना निर्माण के कार्य में सहायता देना, बाहु की तरह आगे बढ़कर शत्रु सेना को खदेड़ना, नदी आदि के जल का पता लगाने, पार करने या उतारने, विषम स्थान (तृणों तथा झाड़ियों से ढ़के स्थान और शत्रु सेना के जमघट के संकटमय शिविर) में घुसना, शत्रु शिविर में आग लगाना और अपने शिविर में लगी आग बुझाना, केवल हस्ति सेना से ही विजय प्राप्त करना, बिखरी हुई सेना का एकत्रीकरण, संघबद्ध शत्रुसेना को छिन्न-भिन्न करना, अपने को विपत्ति से बचाना, शत्रु सेना का मर्दन, भीषण

1. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 429।
2. किरातार्जुनीयम्, चौ.सं.सी., वाराणसी, 1986, 1/5।
3. अर्थशास्त्र, चौ.वि.भ., वाराणसी, 2006, 1/4।
4. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 10।
5. वही, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 425।

आकार दिखाकर शत्रु को भयभीत कर देना, मदधारा का दर्शन कराकर ही शत्रु के हृदय में भय संचार करना, अपनी सेना का महत्त्व प्रदर्शन, शत्रु सेना को पकड़ना, अपनी सेना का शत्रु के हाथ से छुड़ाना, शत्रु के प्रकार, गोपुर, अट्टालक आदि का भंजन और शत्रु के कोश तथा वाहन का अपहरण आदि कार्य हस्ति सेना द्वारा किये जाते हैं।[1] दशकुमारचरित में हस्ति सेना का उल्लेख मानसार के प्रथम युद्ध से प्राप्त होता है।[2] राजवाहन को चण्डपोत नामक हाथी से कुचलवाने का भी वर्णन यहाँ आया है[3] जिससे विदित होता है कि तत्कालीन समाज में हस्ति सेना का बहुविध उपयोग किया जाता था। हाथी पर आरूढ़ सैनिक चक्र धनुष, कृपाण, प्रास, पट्टिश, मुशल तथा तोमर आदि प्रखर प्रबल, टेढ़े-मेढ़े शस्त्रास्त्रों का प्रयोग गरिष्ठशत्रुओं को मारने के लिये करता था।[4] हस्ति को युद्ध के प्रयाण के समय ध्वज-चामर और छत्र से सजाया जाता था तथा उसके गण्ड प्रदेश से मदधारा बह रही होती थी,[5] हस्ति को सेना का प्रधान अंग माना जाता था। किले का द्वार तोड़ने के लिए हाथियों का ही उपयोग होता था।[6]

अश्वसेना –

दशकुमारचरित में अश्वसेना का भी उल्लेख मिलता है। ये लोग हाथों में तलवार, बरछी, भाला आदि से युद्ध करते थे। अश्व सैनिक बड़े चुस्त तथा फुर्तीले होते थे।[7] महाभारत में अश्वों को शीघ्र गतिवाला तथा उत्साही बनाने के लिए युद्ध के समय मदिरापान कराया जाता था।[8] आदिपुराण में कम्बोज, सैन्धव, आरट्टज, वनायुज, वाह्लीक, तैतिल, गांधार और पाण्य आदि जाति के अश्वों को युद्ध के लिए उपयोगी बताया गया है।[9]

रथ सेना –

चतुरङ्गिणी सेना में रथ सेना का विशेष महत्त्व है। दशकुमारचरित में रथ सेना का अनेकशः वर्णन आया है। रथ काष्ठ निर्मित होती थी जिसे अश्व खीचते थे। रथ का सारथी प्रवीण होता था। रथ का योद्धा दृढ़तर कवच, धनुष, नाना प्रकार के

---

1. अर्थशास्त्र, चौ.वि.भ., वाराणसी, 2006, 10/4।
2. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 10।
3. वही, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 122।
4. वही, पृ. 124।
5. वही, पृ. 117।
6. महाभारत, गीताप्रेस गोरखपुर, 1998, सभापर्व, 61/17।
7. अर्थशास्त्र, चौ.वि.भ., वाराणसी, 2006, 10/4।
8. महाभारत, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1984, द्रोणपर्व 112/54-55।
9. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1965, 30/107।

शस्त्रायुधों, बाण, दो तरकस, जिरह-बख्तर आदि से सुसज्जित होता था।[1] राजहंस भी रथ पर ही सवार होकर मानसार से युद्ध के लिए निकला था।[2] कौटिल्य ने देवरथ, पुष्परथ, सङ्ग्रामिक रथ, पारयाणिक रथ, पुरपुराभिगामिक रथ एवं वैमानिक रथ आदि का वर्णन किया है।[3] रथों का उपयोग आगे चलकर सेना की तुलना में अधिकतर अलङ्करण सामग्री के रूप में किया जाने लगा। डॉ. दीक्षितार अल्तेकर और चक्रवर्ती आदि विद्वानों का मत है कि आठवीं शताब्दी से युद्ध के निमित्त रथों का प्रयोग बन्द हो गया था।[4] दण्डी आठवीं शताब्दी के पूर्व के विभूति थे अतः उनके काल में रथ का प्रचलन रहा होगा।

पैदलसेना –

युद्ध में पैदलसेना की विशेष भूमिका होती थी। युद्ध के अतिरिक्त पैदल रक्षक नियुक्त किये जाते थे जो समूह में रहते थे। वे हाथ में लाठी और तलवार धारण करते थे। ये लोग पैदल चलकर युद्ध में भाग लेते थे। रामायण[5] में मौल-भृत्य, मित्र और अटवी इन चार प्रकार की सेनाओं का तथा महाभारत[6] में मौल, भृत्य, अटवी और श्रेणी बल का वर्णन आया है। वंशक्रम से आयी हुई सेना भृत्य, मैत्री भाव से एकत्र की गयी सेना मित्र, निश्चित समय पर सहायता देनेवाली सेना को श्रेणी, पर्वत एवं अरण्य प्रदेशों में रहने वाले निषाद, भिल्ल, शबर आदि से संगठित की गयी सेना को आटविक एवं शत्रु सेना से आक्रान्त होकर भागे हुए सैनिक यदि दस्यु भाव स्वीकार करले तो उनके द्वारा संगठित की गयी सेना भी मित्र कहलाती थी। दशकुमारचरित में भील सेना का उल्लेख आया है जो इतने लड़ाकू होते थे कि मिथिलेश को भी पराजित कर दिये थे।[7]

अस्त्र-शस्त्र –

युद्ध में अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों प्रयोग किया जाता था। दशकुमारचरित में निम्नलिखित अस्त्रों-शास्त्रों का वर्णन मिलता है, जो इस प्रकार है-

---

1. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 59।
2. वही, प्रथमोच्छ्वास, पृ. 16।
3. अर्थशास्त्र, चौ.वि.भ., वाराणसी, 2006, 2/35।
4. यादव डॉ. झिनकू, समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1977, पृ. 76।
5. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 160।
6. शास्त्री नेमिचन्द, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. 368।
7. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 25।

शर[1] – बाण, सायक, तीर।
गदा[2] – शिव का वरदान स्वरूप।
चक्र[3] – एक गोल तीक्ष्ण अस्त्र।
चाप[4] – धनुष।
कणप[5] – लोहे का भाला या छड़।
कर्पण[6] – एक प्रकार का हथियार।
प्रास[7] – वर्छी, भाला, या फल लगा हुआ अस्त्र।
पट्टिशः[8] – तेज धार की वर्छी।
मुसल[9] – एक प्रकार का गदा।
तोमर[10] – लोहे का दण्ड या भाला।
रत्ननख[11] – वघनखा।
यष्टि[12] – लाठी।
कृपाण[13] – तलवार।
छुरिकया[14] – छुरी।

गुप्तचरव्यवस्था –

गुप्तचर वह दूत होता है जो किसी गुप्त रहस्य का चुप-चाप भेद लाता है। भेदिया या जासूस रूप में इसे ग्रहण किया जाता है।[15] गुप्तचर राज्य की गुप्त रूप से सभी जानकारी रखता है। वह राजसेवकों के साथ-साथ प्रजा का भी ध्यान रखता है तथा यह भी जानने को इच्छुक होता है कि राजा के कार्य का प्रभाव प्रजा पर

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 16।
2. वही।
3. वही, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 124।
4. वही।
5. वही।
6. वही।
7. वही।
8. वही, पृ. 124।
9. वही।
10. वही।
11. वही, पृ. 125।
12. वही, पृ. 160।
13. वही।
14. वही, षष्ठोच्छ्वास, पृ. 371।
15. हिन्दीशब्द सागर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी भाग-3, 1967, पृ. 1306।

किस रूप में विद्यमान है। गुप्तचर दूसरे राज्य की भी सूचना अपने राज्य में लाता है। दशकुमारचरित में एक गुप्तचर आकर राजहंस को मानसार की गतिविधि से अवगत कराता है।[1] शिशुपालवध में गुप्तचर को (चारा को) राजा की आँख और दूत को राजा का मुख कहा गया है।[2] किरातार्जुनीय में गुप्तवेशधारी गुप्तचर का वर्णन आया है जो दुर्योधन के सभी कार्यों को युधिष्ठिर से बताता है।[3] अग्निपुराण में गुप्तचरों के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया गया है।[4] ये गुप्तचर विदेशों के रहस्यों का ज्ञान रखते थे।[5] गुप्तचर राजा के मित्रों, शत्रुओं आदि के विरोधी तत्त्वों का पता लगाते थे। राज्य में चारों ओर गुप्तचर का जाल बिछा रहता था। मुद्राराक्षस में भागुरायण और सिद्धार्थक नामक दो गुप्तचर हैं जो चाणक्य के निर्देश पर राज्य की अनेक सूचनाओं को लाते थे।[6] कौटिल्य ने भी गुप्तचरों को राजा की आँख माना है। शत्रु सेना की मुख्य बातों का पता लगाने के लिए गुप्तचर उपयोग में लाये जाते थे।[7] ये लोग शत्रु सेना में शामिल होकर उनकी सब रहस्यात्मक तथ्यों को जान पाते थे।

करव्यवस्था –

राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए कर ग्रहण करना आवश्यक होता है। कर के द्वारा धनग्रहण कर राज्य कर्मचारियों एवं सैनिकों को वेतन तथा उनका भरणं-पोषण किया जाता है। दशकुमारचरित में राजा को प्रजा के लिए कर देने का सङ्केत नही मिलता है लेकिन तत्कालीन युग में कर व्यवस्था विद्यमान थी। डॉ. बलराम श्रीवास्तव ने पल्लवकालीन करव्यवस्था का उल्लेख करते हुए लिखा है- अग्रहार, ब्रह्मोदय और मन्दिर पर चढ़े भूमि कर मुक्त माने जाते थे। शेष भूमि, मुख्यतया खेतिहर भूमि को नाप-जोखकर ही कर निर्धारण किया जाता था। पारम्परिक उल्लेखों के रूप में पल्लव शासन के अन्तर्गत 18 प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें अष्टादश परिहार के रूप में स्वीकार्य किया गया है। ब्राह्मणों, ब्रह्मोदयों और दान में प्रदत्त भूमि से कर नहीं लिये जाते थे। शेष भूमि स्वामियों से कर उगाहे जाते थे। इसके अनुसार दूध, गऊ, तृण, ईधन योग्य लकड़ी, पुष्प, फल आदि से

---

1. दशकुमारचरित, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 13।
2. शिशुपालवधम्, चौ.सं.भ. वाराणसी, 1998, 2/82।
3. किरातार्जुनीय, चौ.सं.सी., वाराणसी, 1986, 1/1।
4. अग्निपुराण, चौ.सं.सं., वाराणसी, 1998, 220/2।
5. अग्निपुराण, चौ.सं.सं., वाराणसी, 1998, 234/16-20।
6. मूद्राराक्षस, चौ.सं.सी., वाराणसी, 1973, अंक - 2।
7. अर्थशास्त्र, चौ.वि.भ., वाराणसी, 2006, 1/11।

भी कर वसूला जाता था। कोल्हू, करघों, कुम्हारों, गड़ेरियों, मदिरा बनाने वालों पर भी कर लगाये जाते थे। वणिक, नमक खोदने वाले, धान्यविक्रेता भी कर देते थे। इनके अतिरिक्त खेतिहर भूमि पर भी कर लगता था, जो राजस्व का प्रधान साधन था इन करों तथा राजस्व से पल्लवों का कोष इतना समृद्ध था कि युद्ध तथा सामान्य प्रशासन के लिए व्यय करते हुए भी साहित्य और कला के संरक्षण के लिए अपार धन का विनियोग करने में समर्थ थे।[1] इसका उल्लेख शतपथ- ब्राह्मण में भी मिलता है।[2]

कोश – राज्य के अन्तर्गत कोश का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्रानुसार यदि राज्य कोश स्वल्प हो अथवा अतार्किकभाव से सहसा अर्थ संकट आ पड़े तो राजा अर्थसंचय का उपाय करके राज्य को बढ़ाए। यदि राज्य का कोई जनपद बड़ा हो, किन्तु उसके पास धन बहुत ही कम हो अथवा यदि उसकी खेती वर्षा के पानी पर निर्भर रहती हो और उसमें प्रचुर अंश का उत्पादन होता हो तो राजा उस जनपद के निवासियों से तृतीयांश या चतुर्थांश भाग ले, किन्तु यदि कोई जनपद मध्यम तथा निम्न श्रेणी का हो तो वहाँ अन्नोत्पादन का परिमाण जांचकर ग्राह्य अंश निर्धारित करे।[3] दण्डी ने भी दशकुमारचरित में राज्य के अष्टाङ्गों में कोश का वर्णन किया है।[4]

राजविद्याएँ – राज्यकार्य सञ्चालन के लिए निम्न विद्याओं की आवश्यकता होती है –

चतुर्विद्या – दशकुमारचरित में चार प्रकार की राजविद्याएँ दी गयी है- त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी और दण्डनीति।[5] **त्रयी** के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद आता है। इन तीनो वेदों की जानकारी राजा के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

वार्ता के अन्तर्गत कृषि और गो रक्षा आती है। अपनी प्रजा की वृत्ति का प्रबन्ध करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। वार्ता का प्रयोग जीवन निर्वाह के साधन के अर्थ में किया जाता है।[6] विष्णुपुराण में इसी प्रकार वार्ता को जीविका के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[7] इस प्रकार राजा का समाज की अर्थव्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण होता

---

1. श्रीवास्तव डॉ. बलराम, दक्षिण भारत, चौ.वि.भ. वाराणसी,1992, पृ. 285-86।
2. शतपथ ब्राह्मण, चौ.सं.सी., वाराणसी, 1998, 5/4/2/3।
3. अर्थशास्त्र, चौ.वि.भ., वाराणसी, 2006, 5/2।
4. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 455।
5. वही, पृ. 418।
6. अमरकोश 2/9/1 – आजीवो जीविका वार्ता।
7. विष्णुपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2063, 1/6/20।

था और प्रजा की वृत्ति का प्रबन्ध करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता था। **आन्वीक्षिकी** से न्यायशास्त्र अर्थ ग्रहण किया जाता है।[1] भाष्यकार ने लिखा है कि भिन्न-भिन्न प्रमाणों द्वारा वस्तुतत्त्व का परीक्षण ही न्याय है।[2] इन विद्याओं के सम्बन्ध में दशकुमारचरित में बतलाया गया कि ये विद्याएँ अति परिश्रम से प्राप्त होती हैं।[3] अतः राजा को विशेषकर दण्डनीति का आश्रय लेना चाहिए। दण्डविद्या को आचार्य विष्णुगुप्त- चाणक्य ने अपने शिष्यों को अर्थात् यथाक्रम राजपुत्रों को और चन्द्रगुप्तमौर्य को शिक्षित करने के लिए छः सहस्र श्लोकों में ही निर्मित कर दिये।[4] इसके आश्रय से राज़्य व्यवस्थाएँ सञ्चालित होती हैं। प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक अध्ययन की एक महान शैक्षणिक उपलब्धि मानी जाती थी। तत्कालीन राजदण्डव्यवस्था मनु और चाणक्य के नियमों पर आधारित थी। लेकिन विशेष रूप से आचार्यमनु के सिद्धान्तों का राजा द्वारा पालन किया जाता था।[5] धर्मशास्त्र रूपी दीपक के प्रकाश में चलने वाला राज-प्रशासन श्रेष्ठ होता है। धर्मशास्त्र दिव्यदृष्टि के समान है जो दृष्टि वर्तमान, भूत और भविष्य तथा अज्ञातवश न दिखायी देने वाले सभी पदार्थों तक अप्रतिहत गति से पहुंच जाती है।[6] धर्मशास्त्रीय नीतिकारों में दण्डी ने शुक्राचार्य, अंगिरस, विशालाक्ष, वाहुदन्तिपुत्र, पराशर आदि का नाम बड़े ही तर्कपूर्ण स्थिति में लिया है।[7] दण्ड विद्या के बिना राजा वैसे ही शोभाहीन लगता है जैसे अग्नि में बिना तपा हुआ सुवर्ण शोभाहीन रहता है।[8] 'दशकुमारचरित' में सामाजिक अनुशासन वर्तमानता के लिए दण्ड देने का उल्लेख प्राप्त होता है। राजवाहन जब अवन्तिसुन्दरी के साथ शयनकक्ष में पकड़ा जाता है तो इस अपराध के लिए उसे मृत्युदण्ड का आदेश होता है।[9] चर्मरत्नभ्रस्तिका को चुराने के कारण अपहारवर्मा को कारागार में बन्द कर दिया जाता है।[10] काराध्यक्ष कान्तक था।[11] सोमदत्त को भी चोरी के अभियोग

---

1. न्याय भाष्य 1/1/1।
2. वही, प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।
3. दशकुमारचरित, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 418।
4. वही, पृ. 419।
5. वही, पृ. 413।
6. वही, पृ. 415।
7. वही, पृ. 425।
8. वही, पृ. 414।
9. वही, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 117।
10. वही, द्वितीयोच्छ्वास, पृ. 197।
11. वही, पृ. 196।

राजपुरुषों द्वारा पकड़ा जाता है।[1] कामपाल को राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न करने के कारण दण्ड स्वरूप उसकी आँख निकाल कर मृत्युदण्ड देने का वर्णन प्राप्त होता है।[2] धुमिनी अपने पति का त्याग कर अन्य पङ्गु को अपना पति बनाकर पतिपरायण स्त्री का पद प्राप्त कर लेती है लेकिन उसके पति द्वारा रहस्य भेदन होने से उसे दण्ड स्वरूप कुत्सितांगी करके कुत्तों की पाचिका नियुक्त किया गया।[3] इस प्रकार राजा का यह परमकर्त्तव्य है कि वह अपराध के तुल्य दण्ड देने का विधान करे। दण्ड के द्वारा ही समाज में एक व्यवस्था का जन्म होता है। जो व्यक्ति स्वयं अनुशासन में नही रहते हैं उनके लिए एकमात्र उपाय दण्ड ही है। असज्जनों का दमन दण्ड द्वारा ही किया जा सकता है। असज्जनों को दण्ड देने का कार्य राजा करता है। इस कार्य के लिए राजा को अत्यन्त निष्पक्ष रहना चाहिए। राजा दण्ड द्वारा ही समाज में अपराध पर नियन्त्रण रखता है। जो किसी निरपराध व्यक्ति को कष्ट देता है वह निश्चित ही दण्ड का भागी है। दण्ड के कारण सर्वत्र राजा का भय बना रहता है। असज्जनों का दमन करने से सज्जनों की रक्षा होती है।[4] अतः राजा का यह परम कर्त्तव्य है कि वह स्वधर्म में स्थित रहते हुए बिना किसी संकोच के दण्ड नीति को ग्रहण करे।

षड्गुण – उन चतुर्विद्या के अतरिक्त राजनीति के छः गुणों से युक्त राजा पूण्यवर्मा था।[5] वह सन्धि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय और द्वैधीभाव, इन छः गुणों का विधिवत पालन करता था। जिसे राजनीति में षड्गुण नाम से अभिहित किया जाता है। दो राजाओं का किसी शर्त आदि पर मेल को **संधि** कहा जाता है। किसी राजा का अन्य किसी दूसरे राजा से शत्रुता करना ही **विग्रह** है। अन्य राजा की उपेक्षा करना ही **आसन** है। दूसरे राजा पर आक्रमण करने को **यान** कहा जाता है। आत्मसमर्पण करने को **आश्रय** या संश्रय कहा गया है। परिस्थिति के अनुसार किसी एक राजा से मित्रता अथवा संधि तथा दूसरे किसी राजा से विग्रह ही **द्वैधीभाव** अभिहित किया गया है। राजनीति के ये छः गुण राज्य की विदेश-नीति से सम्बन्धित हैं।

उपाय – दण्डी ने चार उपाय का भी दशकुमारचरित में उल्लेख किया है- साम, दाम, दण्ड, भेद।[6] राजा अपने राज्य के विस्तार एवं उस पर भली-भाँति नियन्त्रण

---

1. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 55।
2. वही, चतुर्थोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 272।
3. वही, षष्ठोच्छ्वास, पृ. 345-46।
4. श्रीमद्भागवत पुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2062, 1/17/14।
5. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 413।
6. वही, पृ. 424 – सामादि रूपाय वर्गः, पृ. 455।

स्थापित करने के लिए विभिन्न उपायों का आश्रय लेता है। राजा अपने विपक्षियों के साथ संघर्ष के अवसर पर इन उपायों का अवलम्बन कर विजय प्राप्त करता है। **साम**-एक राजा दूसरे राजा के साथ अपने व्यवहार के द्वारा प्रभावित करता है। **दाम**-धन-सम्पत्ति का लालच देकर दूसरे राज्य को अधीन करना। **भेद**-कूटनीति के द्वारा दूसरे राज्य में मतभेद पैदा करना। **दण्ड**-सैनिक कार्यवाही के द्वारा दूसरे राज्य पर प्रभुत्व स्थापित करना। मनु ने इनमें से साम और दण्ड को राष्ट्र के लिए सर्वाधिक कल्याणप्रद माना है।[1] रामायण में इन चार उपायों का बहुविध वर्णन किया गया है।[2] मत्स्यपुराण[3] और अग्निपुराण[4] में इन उपायों की संख्या सात बताई गयी है।

त्रिवर्ग – त्रिवर्ग में धर्म, अर्थ और काम- इन तीन पारिभाषिक शब्दों का समावेश है। दशकुमारचरित में इसे विस्तारपूर्वक दिया गया है।[5] धर्म बिना अर्थ और काम की उत्पत्ति ही नही होती है। धर्म, काम और अर्थ की उपेक्षा नही करता। यह धर्म ही निवृत्ति सुख का मूल है। चित्त की एकाग्रता मात्र से यह सिद्ध होता है। अर्थ और काम बाह्य साधन है। तत्त्वज्ञान से उत्कर्ष को प्राप्त हुआ धर्म किसी भी तरह यदि अर्थ और काम का अनुष्ठान करे तो वह भी उनसे बाधित हो जाता है। यह तनिक प्रयास से समाहित हो करके उस दोष को भी नष्ट करके विपुल श्रेय का कारण बनता है। आगे दण्डी ने अनेक अर्थ और काम के उदाहरण दिये हैं जो धर्म सिद्धि के मूल में विद्यमान हैं। इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट की निवृत्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग के प्रति समान भाव रखना चाहिए। गृहस्थ सम्बन्धी सदाचार के प्रसंग में त्रिवर्ग का विवरण आया है किन्तु राजा के प्रजापालन कार्य में इसकी अनिवार्य उपयोगिता भी प्रतीत होती है।

अन्तर्राज्य सम्बन्ध – दण्डिकालीन राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्राज्य सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। यहाँ राज्यों का आपसी सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था लेकिन कुछ राज्य आपस में शत्रुता भाव भी रखते थे। दशकुमारचरित में राजहंस ने मालवेश्वर मानसार के राज्य पर आक्रमण किया था।[6] मानसार भी अपनी पराजय का बदला लेने के लिए राजहंस के राज्य पर आक्रमण किया।[7] दशकुमारचरित में मगध और

---

1. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, उ.पं., 2000, 7/109।
2. रामायण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2064, 5/41/2-3।
3. मत्स्यपुराण, मेहरचन्द लच्छमनदास, देलही, 1984, 222/2।
4. अनिपुराण, चौ.सं.सं., वाराणसी, 1998, 256/5-6।
5. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 139-41।
6. वही, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 10।
7. वही, पृ. 15।

मिथिला राज्य का अन्तर सम्बन्ध बहुत अच्छा था। राजहंस और मानसार के मध्य युद्ध में मिथिलेश प्रहारवर्मा राजहंस की ओर से युद्ध में भाग लिया था।[1] इससे विदित होता कि कुछ राज्यों का आपसी सम्बन्ध अच्छा था और कुछ का आपसी सम्बन्ध ठीक नही था। जिन राज्यों के आपसी सम्बन्ध अच्छे होते थे उनमें आयात-निर्यात भी होता था।

राष्ट्रीय भावना –

राष्ट्रीयता की निर्मल धारा से सम्पूर्ण संस्कृतसाहित्य ओत-प्रोत है। भारतीय जनमानस की धर्माचरण, कर्मयोग आदि निष्काम सद्व्यवहारों के कारण जो एहलौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस उपलभ्य हैं इससे स्वर्गीय देवता भी अपने को भारतीय जनता की अपेक्षा हीन समझते हैं। दशकुमारचरित के सभी पात्रों के अन्दर स्वयं में भारतीय होने का गर्व है। यहाँ परस्पर राजाओं में वैर है लेकिन उनके अन्दर भारतीयता है जिसके वजह से एक दूसरे को महत्त्व देते हैं। राजहंस युद्ध में मानसार को परास्त कर उसके विजित राज्य को वापस कर देता है और मानसार को भी छोड़ देता है।[2] मानसार भी प्रहारवर्मा को युद्ध में परास्त करके मुक्त कर देता है।[3] ये दोनों घटना राष्ट्र प्रेम से जुड़ी हुई है, मानवीयता की सङ्केत स्थल हैं। सभी लोग किसी स्थान या देश में बिना किसी रोक-टोक के आवागमन कर सकते थे। सभी के अन्दर बन्धुत्व की भावना समाहित है। सभी अपने राज्य के सम्वर्धन के लिए कार्य में संलग्न दृष्टिगोचर होते हैं।

❑❑❑

1. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 455।
2. वही, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, पृ. 11।
3. वही, पृ. 25।

अध्याय-७

शिक्षा, साहित्य एवं कला

शिक्षा शब्द शिक्ष् (भाव + अ) + टाप् प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ है सीखना-सीखाना।[1] इसलिए शिक्षा का अभिप्राय हुआ सीखने-सीखाने की क्रिया। यदि हम शिक्षा के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द एजूकेशन पर विचार करे तो भी उसका यही अर्थ निकलता है। एडूकेशन शब्द लैटिन भाषा के एडूकेटम (Educatum) शब्द से बना है और एडूकेटम शब्द उसी भाषा के ए (E) तथा ड्यूको (Duco) दो शब्दों से मिलकर बना है। ए का अर्थ है अन्दर से और ड्यूको का अर्थ आगे बढ़ाना है। इसलिए एजूकेशन का अर्थ हुआ- व्यक्ति के आन्तरिक शक्तियों को बाहर की ओर प्रकट करना।[2] इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास होता है। वह सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवहारों को सीखता है। इसी के द्वारा उनमें श्रेष्ठ दैवीगुणों का आविर्भाव होता है। शिक्षा वह है जो मनुष्य को सदाचार तथा न्याय के लिए प्रेरित करती है जिससे अत्याचारी शक्तियों का विनाश सुगमता से किया जा सकता है। शिक्षा ही मानव विकास का मूल साधन है इसके बिना वह कदापि आगे नहीं बढ़ सकता। नारायण पण्डित ने हितोपदेश में शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि सौन्दर्य और तारुण्य से युक्त और महाकुल में उत्पन्न होकर भी विद्या (शिक्षा) रहितजन सुगन्ध से हीन ढ़ाक के पेड़ समान शोभित नहीं होते हैं-

रूपयौवन सम्पन्ना विशाल कुल सम्भवाः।
विद्याहीना न शोभते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥[3]

शिक्षा के बिना सही अर्थ में व्यक्ति मनुष्यत्त्व नहीं प्राप्त करता वह मात्र शरीर दीखाता है। उसका बौद्धिक जीवन स्तर उत्कृष्ट नहीं बन पाता है। नीतिशास्त्र में भी आया है कि जिनमें विद्या, तप, दान, शील, गुण, तथा धर्म नहीं है वे पृथ्वी पर भारस्वरूप पशु ही हैं जो मनुष्य के रूप में विचरण करते हैं-

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भूवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥[4]

---

1. वामन शिवराम आप्टे – संस्कृत हिन्दी कोश, वाराणसी, दिल्ली, पृ. 10/5।
2. लाल प्रो. रमन बिहारी, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ, 2008, पृ. 1।
3. हितोपदेश, चौ.सु., वाराणसी, 2005, मित्रलाभ, पृ. 37।
4. नीतिशतक, चौ.सं.सी.आ., वाराणसी 1998, पृ0 13।

इस प्रकार शिक्षा ही मनुष्य होने की कसौटी है। इसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास, ज्ञान एवं कौशल में वृद्धि तथा उचित व्यवहारिक परिवर्तन किया जा सकता है। जिससे वह सुसंस्कृत एवं सभ्यनागरिक बनता है। बच्चे जन्म से ही सीखना प्रारम्भ कर देता है। वह माता – पिता, भाई, बन्धु सभी के व्यवहारों को अपने जीवन में उतारता है अतः शिक्षा में परिवेश का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य का सीखने-सिखाने का क्रम आजीवन चलता रहता है। अपने वास्तविक अर्थ में किसी समाज में सदैव चलने वाली सीखने-सिखाने की यह सप्रयोजन प्रक्रिया ही शिक्षा है। इसके द्वारा कोई समाज अपने सदस्यों को अपनी पूर्व संचित सभ्यता और संस्कृति से परिचित कराता है और उन्हें इस योग्य बनाता है कि अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का निरन्तर विकास कर सके। शिक्षा मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, चारित्रिक, व्यावसायिक, देशभक्ति, आध्यात्मिक, आदि गुणों का विकास कर उसका मार्ग प्रशस्त करती है।

'महाकविदण्डी' संस्कृत साहित्य के विशिष्ट विभूति हैं। वे तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था के सन्दर्भ में अनेक तथ्यों का अपने काव्यों में उद्घाटन किये हैं। शिक्षा ही श्रेष्ठ गुणों की जननी है। सभी लोग अपने सन्तान को शिक्षित बनाना चाहते हैं। उन्हें सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी जिसका विस्तार से वर्णन प्रस्तुत अध्याय में किया जा रहा है-

शिक्षा का उद्देश्य –

शिक्षण का उद्देश्य क्या है? किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए विद्यार्जन काल में इतना क्लेश, दुःख, सन्ताप को सहन किया जाता है, कविकालिदास का इस विषय में बहुत स्पष्ट उत्तर है। शिक्षा का पुण्य फल यह नही कि वह सामाजिक जीवन का तथा जीवकोपार्जन का उपाय मात्र है। शिक्षित हो जाने पर व्यक्ति अपने उदर की पूर्ति अवश्य कर सकता है तथा समाज में अपना विशेष स्थान भी सुनिश्चित कर सकता है। परन्तु शिक्षा की इतनी ही आवश्यकता नही है, वह तो जीवन पवित्र तथा विभूषित करने के लिए नितान्त समर्थ है। पार्वती जन्म के अवसर पर हिमालय की प्रशंसा करते समय कालिदास ने स्पष्ट ही कहा है कि हिमालय द्वारा पार्वती उसी प्रकार पवित्र तथा विभूषित की गयी जिस प्रकार स्वर्ग गङ्गाजी से तथा विद्वान पुरूष संस्कार युक्त वाणी से-

प्रभामहत्या शिखयेव दीपास्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया सपूतश्च विभूषितश्च ॥[1]

---

1. कुमारसम्भवम्, कृ.दा.अ., प्रथम, वाराणसी, 1997, 1/28।

शास्त्रीय विद्या जब तक व्यवहार के रूप में न लायी जाय तब तक उसका कोई मूल्य नहीं रहता। व्यवहार से समन्वित होने पर ही वह अध्ययन वास्तविक बनता है।

विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादाश्तिुमर्हति।[1]

श्री हर्ष नैषधमहाकाव्य में शिक्षा ग्रहण, ज्ञान, आचरण (व्यवहार) और प्रचार का उल्लेख किया है।

अधीतिबोधाचरण प्रचारणैर्दशाश्चतस्त्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं ने वेद्मि विद्यासुचतुर्दश स्वयभू।[2]

शिक्षा का यही उपयोग है। सर्वप्रथम सभी विद्याओं का अध्ययन करना चाहिए। उनका सदैव ज्ञान रहे। ज्ञान के बाद सामान्य रूप से विद्याओं का व्यवहार (आचरण) होना चाहिए। उसे अपने जीवन में उतारें, तब पुनः उसका प्रचार करे, अर्थात् अध्यापन करें।

शिक्षक –

तत्कालीन समाज में शिक्षक सन्यासी प्रकृति के होते थे, जो जंगल में एकान्त स्थान पर निवास करते थे और वहीं शांतमय वातावरण में विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। दण्डी ने 'दशकुमारचरित' में 'महर्षि वामदेव' को त्रिकालदर्शी के रूप में उल्लेख किया है जो एक कुशल शिक्षाकर्मी थे।[3] वे अपने शिष्यों को अनेक गूढ़ विषयों का उपदेश देते थे। कालिदास आदर्शशिक्षक की बड़ी सुन्दर परिभाषा लिखी है। कुछ शिक्षक विद्या ग्रहण करने में निपुण होते हैं और कुछ विद्यार्थियों को पढ़ाने में चतुर होते हैं, परन्तु सबसे श्रेष्ठ शिक्षक में इन दोनों गुणों का समन्वय होता है। वह विद्या के ग्रहण में तथा संक्रमण में समभाव से समर्थ होता है-

शिष्टा क्रिया कस्य चिदात्मसंस्था
संक्रास्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥[4]

अध्यापन से अध्यापक का ज्ञान और बढ़ता है। अध्ययन के समय सम्यक् रूप से पढ़ी गई विद्या अध्यापन काल में विलक्षण रूप से अवतरित होती है। कालिदास का अनुभव इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है। इनका कथन है – सुशिक्षितोत्सर्वः उपदेशेन निष्णातो भवति।[5]

---

1. रघुवंश, चौ.सं.सं., पंचम, वाराणसी, 1985, 1/88।
2. नैषध, कृ.दा.अ., प्रथम, वाराणसी, 2002, 7/4।
3. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ0 22।
4. मालविकाग्निमित्र, मो.ला.व.दा. वाराणसी, 1980, 1/16।
5. वही, प्रथम अंक।

शिष्य –

शिक्षक ऐसे ही शिष्यों को चुना करता था, जो सदाचारी, सुयोग्य और उत्साही जान पड़ते थे। उनके अन्दर दया, प्रेम, सहकार की भावना भी देखने को मिलती थी। 'वामदेव' के शिष्य अनेक विपत्तियों से ग्रस्त लोगों की सहायता में संलग्न दृष्टिगोचर होते हैं। गुरूआज्ञा शिष्यों के लिए शिरोधार्य हुआ करती थी। 'दशकुमारचरित' में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि गुरूजनों की वाणी का उलङ्घन नहीं करना चाहिए।[1] इन्हीं भावों से अनुप्राणित हो शिष्य शिक्षा ग्रहण करते थे। शिष्य उपनयनसंस्कार के बाद शास्त्र अध्ययन का अधिकारी बनता था। इस सन्दर्भ में 'राममूर्ति चौधरी' कहते हैं कि दण्डी के अनुसार उपनयन के बाद लिपिज्ञान, भाषा, वेद, काव्य, नाटक, अध्ययन, इतिहास, पुराण, चित्रकला व राजनीति, युद्ध विद्या का अभ्यास किया जाता है।[2] इसका सङ्केत दण्डी भी 'दशकुमारचरित' में दिये हैं।[3] 'उत्तररामचरित' भी इन्हीं विधियों का विधान करता है कि चूड़ाकर्मसंस्कार होने के बाद ही लव और कुश ने आन्वीक्षिकी, वार्ता, दण्डनीति इन तीनों विद्याओं का अध्ययन किया और ग्यारहवें वर्ष उपनयन संस्कार के बाद वाल्मीकि ने उन्हें वेद पढ़ाया।[4] इस प्रकार ग्यारह वर्ष की आयु से शिष्य विद्या अर्जन करने लगता था। 'दण्डी' ने यह भी उल्लेख किया है कि जब तक शिष्य पूर्णरूप से युवावस्था को प्राप्त करता है तब तक उसे विद्या अर्जन करना चाहिए। 'वामदेव' 'राजवाहन' को पूर्ण युवावस्था को प्राप्त होने पर ही दिग्विजय के लिए आज्ञा दिया था,[5] अतः राजवाहन की आयु उस समय लगभग 25 साल रही होगी। इस प्रकार प्राचीनशिक्षा की अवधि ग्यारह साल से पचीस साल तक की होती थी।

पाठ्यक्रम –

प्राचीन भारत में शिष्य के चतुर्दिक उन्नति के लिए विशेष पाठ्यक्रम की व्यवस्था थी। इस पाठ्यक्रम में उनके जीवन को सुखी-सम्पन्न बनाने के लिए अनेक तथ्यों का वर्णन होता था जिन्हें आत्मसात कर वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करते थे। दण्डी ने पाठ्यक्रम का उल्लेख करते हुए लिखा है- वेद, काव्य, नाटक, आख्यायिका, आख्यान,

---

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ0 168 – न च निषेधनीय गरीयसां गिरः।
2. चौधरी राममूर्ति, हरिवंश पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 1989, पृ. 44।
3. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ0 38
4. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 4/2।
5. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ0 41।

इतिहास, चित्रकथा सहित पुराणों की विज्ञता, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, न्यायशास्त्र, मीमांसा, प्रभृति सकल शास्त्रों की चतुरता, कौटिल्य, कामन्दकीय आदि नीतिग्रन्थों की कुशलता, वीणा आदि सभी वाद्य कलाओं में पटुता, संगीत, साहित्य, मणि, मन्त्र, औषध, आदि माया-प्रपञ्चों में दक्षता, हाथी, घोड़े, रथादि सवारियों पर चढ़ने की क्षमता, अनेक प्रकार अस्त्र-शस्त्रों को चलाने में पटुता, चोरी, जुआ, कपट कला में प्रवीणता, आदि।[1] तत्कालीन जीवन में आने वाली समस्याओं के निराकरण के लिए पाठ्यक्रमों की व्यवस्था थी।

शिक्षण केन्द्र –

दण्डिकालीन उपाध्याय अपने नगर से दूर जाकर शान्त एवं रमणीय जंगलों में शिक्षा देता था। गुरू के समक्ष बैठकर विद्यार्थीगण अध्ययन करते थे। हर्षकृत नागानन्द से ऋषि के तपोवन में विद्यार्थियों के अध्ययन की सूचना मिलती है।[2] दशकुमारचरित में भी सभी राजकुमार 'वामदेव' के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करते हैं।[3] वहाँ शिष्यों की संख्या का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है लेकिन दशकुमारों के साथ और विद्यार्थीगण अवश्य रहे होंगे। डॉ. अल्टेकर के अनुसार एक आचार्य के पास लगभग पन्द्रह विद्यार्थी अध्ययन करते थे।[4] उस समय भारतवर्ष में शिक्षा का ताना-बाना सारे देश में फैला हुआ था और अपने घर पर ही स्वतन्त्ररीति से अध्यापन करने वाले आचार्य शिक्षण के मेरुदण्ड थे। दण्डी ने पल्लव नरेश के पुत्रों को शिक्षित करने के उद्देश्य से ही काव्यादर्श का सृजन किया था।[5] दण्डी तो दरबारी कवि थे अतः घर पर भी शिक्षा देने की परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी। बाण ने अपने पितामह अर्थपति के यहाँ आनेवाले नित्य-नये शिष्यों का उल्लेख किया है।[6] इससे स्पष्ट होता है कि विद्यार्थी उपाध्याय के घर जाकर भी शिक्षा ग्रहण करते थे। हरिवंशपुराण के एक प्रसंग में एक व्यक्ति द्वारा नित्य शिष्य के घर जाकर उसे वहीं शिक्षा देने का उल्लेख है।[7] पंचतन्त्र में विष्णुशर्मा भी राजकुमारों के घर पर ही उन्हें शिक्षित किये थे।[8] इस प्रकार समर्थ लोग ट्यूशन की भाँति अपने बच्चों की शिक्षा के लिए घर पर ही व्यक्तिगत

---

1. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ0 38-39 – सकल लिपिज्ञानं निखिल देशीय भाषा पाण्डित्यं।
2. नागानन्द, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1970, 1/11-12।
3. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 35।
4. अल्तेकर ए.एस., प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ. 65।
5. वर्मा डॉ. निलिमा, दण्डी की उपमा योजना, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, 2005, पृ. 10।
6. अग्रवाल वासुदेवशरण, कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौ.वि.भ., 1998, पृ. 15।
7. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1994, 35/64।
8. पंचतन्त्र, चौ.वि.भ., वाराणसी, 198, कथामुख, पृ. 4।

शिक्षक की व्यवस्था किया करते थे। तत्कालीन समय में अध्यापक शिष्य के घर पर शिक्षा देता था, इस व्यवस्था की सूचना यहाँ उपलब्ध होती हैं। अतः दण्डिव तीन शिक्षा के तीन केन्द्र सामने आते हैं-

1- जंगल में आश्रम के रूप में

2- उपाध्याय के घर

3- विद्यार्थी के घर

सहशिक्षा –

कवि दण्डी ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी स्पष्ट रूप से सहशिक्षा का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु मरीचिआश्रम में काममञ्जरी के निवास का उल्लेख किया है जो सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना चाहती है।[1] भवभूति के मालतीमाधव नाटक में कामनन्दकी की शिक्षा-दीक्षा भूरीवसु तथा देवराज के साथ-साथ एक ही पाठशाला में हुई थी।[2] उत्तररामचरित में भी हम आत्रेयी को लव-कुश के साथ वाल्मीकि आश्रम में शिक्षा ग्रहण करते पाते हैं।[3] पुराणों में वर्णित कहोद, और सुजाता, रुहुव और प्रमदवश की कथाओं से भी ज्ञात होता है कि बालिकाओं का विवाह पूर्णरूप से युवावस्था में होता था और वे पाठशालाओं में बालकों के साथ-साथ पढ़ती थीं। फलस्वरूप यदा-कदा गान्धर्वविवाह भी होते थे।

स्त्रीशिक्षा –

वैदिककाल से ही शिक्षा जगत् में स्त्रियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वे शिक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ साहित्य सृजन में भी उल्लेखनीय सहयोग करती थी। उदाहरण स्वरूप विश्ववारा, घोषा, लोपामुद्रा प्रभृति स्त्रियाँ ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों का दर्शन की थी। इसका प्रधान कारण यह था कि उस समय नारी को प्रत्येक धार्मिककृत्य एवं वेदमन्त्रों के उच्चारण का पूर्ण अधिकार था। वह अपने पति के साथ यज्ञसम्पादन कार्य में सदैव संलग्न रहती थी। उत्तरवैदिक काल में भी अनेक विदुषी स्त्रियों में मैत्रेयी, गार्गी, आदि विशेष रूप से स्मरणीय हैं। जनक द्वारा सम्पादित यज्ञ के अवसर पर गार्ग्री विद्वत्तापूर्ण अनेक प्रश्नों को करती है। जो स्त्री शिक्षा के सुदृढ़परम्परा का प्रमाण स्वरूप है। कालान्तर में परिस्थितियाँ बदली और स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि वे धीरे-धीरे स्त्रियों गृहिणी रूप तक सीमित हो गयी।

---

1. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004।
2. मालतीमाधव, चौ.सं.सी., वाराणसी, 1998, अंक 1।
3. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2004, अंक 2।

दण्डिकालीन स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार बहुत अधिक तो नहीं मिलता लेकिन पत्र-लेखन अन्य क्रिया-कलाप करने की शिक्षा दी जाती थी। अवन्तिसुन्दरी राजवाहन को बालचन्द्रिका के द्वारा पत्र-प्रेषित करती है। जिसमें यह उक्ति दी गयी है-

सुभग कुसुम सुकुमारं जगतनवद्यं विलोक्य ते रूपम्।
मम मानसमभिलषति त्त्वं चित्तं कुरु तथा मृदुलम् ।।[1]

अर्थात् हे सुभग! पुष्प के सदृश सुन्दर तथा कोमल तुम्हारे स्वरूप को देखकर मेरा चित्त तुम पर मुग्ध हो गया है। तुम अपने चित्त को भी अपने शरीर के समान कोमल कर लो। यहाँ अवन्तिसुन्दरी अपने अनुराग को मात्र अल्प पंक्ति में व्यक्त कर तत्कालीन स्त्रीशिक्षा को स्पष्ट की है। काममञ्जरी की माता अपनी पुत्री को तर्क और सिद्धान्त (ज्योतिष) आदि विषयों का ज्ञान कराने का उल्लेख की है।[2] 'हरिवंशपुराण' के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि राजपुत्रों के साथ राजकन्याओं को भी अक्षर, चित्र, संगीत एवं गणित आदि कलाओं की शिक्षा दी जाती थी।[3] डॉ अल्टेकर के अनुसार प्राचीन काल में जन साधारण परिवारों में नारी शिक्षा की बड़ी अवनति हुई तथापि धनी, सुसंस्कृत एवं राजकुलों में ही नारी शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था। वे सामान्यतः संस्कृत, व्याकरण तथा ललित कला की शिक्षा पाती थीं। धनीपरिवारों में कन्याओं की शिक्षा के लिए आचार्य रखे जाते थे।[4] स्त्रीशिक्षा के सम्बन्ध में सोमदेव की यह उक्ति रोचक है कि स्त्रियों को शिक्षित करना सर्प को दूध पिलाने के समान है।[5]

साहित्य —

साहित्य किसी देश की राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा जातीय भावनाओं का प्रतीक होता है। इसकी व्युत्पत्ति 'सहितस्य भावः साहित्यम्' है अर्थात् सहित शब्द और अर्थ के मञ्जुल सामञ्जस्य का सूचक है। अर्थ के अनुरूप शब्द का चयन इनका सामञ्जस्य है। अर्थ का अभिप्राय विषय-वस्तु से है और विषय-वस्तु को शब्दों से प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार शब्दों की राशि ही साहित्य है। साहित्य में समाज के विभिन्न स्थितियों-परिस्थितियों का यथार्थ वर्णन किया जाता है। जिससे राष्ट्र का सही स्वरूप उभर कर सामने आता है। प्रत्येक देश के साहित्य में उस देश के स्वगुण-दोष प्रतिबिम्बित होते हैं, इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण बताया जाता है।

---

1. दशकुमारचरितम्, पञ्चमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ0 98।
2. वही, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ0 113।
3. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1994, 9/24।
4. अल्टेकर ए.एस., प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ. 164।
5. जैन गोकुलचन्द, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 88।

भारत का प्राचीन साहित्य प्रायः संस्कृत भाषा में ही निबद्ध है। संस्कृत- साहित्य भारत के गर्वोन्नत भाल की दीप्ति से संक्रान्त जीवन का चित्र है। कोई विद्वान् जब भारत के प्राचीन साहित्य की चर्चा करता है तो निश्चित ही उसका अभिप्राय संस्कृत साहित्य से होता है। प्राचीन भारतीय साहित्यों में पाली एवं प्राकृत का भी स्थान था लेकिन ये संस्कृत की अपेक्षा अल्प परिलक्षित होती हैं। संस्कृत आर्यों की भाषा है। आर्य संस्कृति के विस्तार के साथ-साथ भाषा का अत्यधिक विकास हुआ। हमारी पुनीत भाषा संस्कृत का प्राचीन स्वरूप वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों आदि में सुरक्षित है। प्रारम्भ में साहित्य एवं व्यवहार की भाषा में भिन्नता नहीं थी परन्तु कालक्रमानुसारेण यह भिन्नता बढ़ गयी फलस्वरूप अनेक क्षेत्रीय भाषाओं का जन्म हो गया। पाली, प्राकृत और प्राकृत के विभिन्न रूप पैशाची, महाराष्ट्री, मागधी, आदि भाषाओं का विकास होने लगा। शनैः-शनैः इनके ही विभिन्न रूप विकसित होकर हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में उपलब्ध हैं।

यदि हम पाली, प्राकृत भाषाओं पर विचार करें तो यह अशोक के शासन काल से अत्यधिक व्यवहार्य दृष्टिगोचर होती हैं। इस काल में इन भाषाओं में अनेक साहित्यिक कृतियों का सृजन हुआ। लेकिन ज्यों-ज्यों पालि-प्राकृत भाषाओं का विकास होता गया त्यों-त्यों वह संस्कृत से दूर होने लगी फलस्वरूप संस्कृत राष्ट्रभाषा की अधिकारिणी बनी। गुप्तकाल के पूर्व ही बौद्ध आदि ने अपने धार्मिकग्रन्थों की रचना संस्कृतभाषा में करना प्रारम्भ कर दिया था। गुप्तसाम्राज्य के स्थापित होने पर संस्कृत का और उत्तरोत्तर विकास होता गया। इसका कारण बी.एन. लुबिया ने 'भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास' में दिया है कि 'गुप्तसम्राट संस्कृत के इतने अधिक उत्साही प्रसंशक थे कि ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने अपने रंगमहलों और अन्तःपुर में भी संस्कृत के प्रयोग करने के आदेश दिये थे। उन्होंने संस्कृत को राजभाषा घोषित कर दिया।[1] इसका परिणाम यह हुआ कि सरकारी और गैरसरकारी सभी कार्य संस्कृत में होने लगे। पालि-प्राकृत का स्थान संस्कृत ने ले लिया। इसीलिए गुप्तकाल को संस्कृत के लिए स्वर्ण युग कहा जाता है। गुप्तसम्राट संस्कृत साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। वे संस्कृत के कवियों, लेखकों, आदि को अत्यधिक प्रश्रय दिये। समुद्रगुप्त के राजसभा में प्रख्यात कवि हरिसेन रहता था। उसी ने इलाहाबाद के स्तम्भ की प्रशस्ति को लिखा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय भी अपने पिता की भाँति संस्कृत विद्वानों का मान-सम्मान यथावत रखा फलस्वरूप कालिदास जैसे विद्वान

---

1. लुणिया बी.एन., भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा-3, 1990, पृ. 182।

उसके राजसभा को मण्डित कर रहे थे। इतिहासकार काल क्रम के अनुसार इसे नहीं मानते। लेकिन कालिदास ने संस्कृत के अद्भुतग्रन्थों का प्रवचन इसी भारत भूमि पर किया जिसकी प्रशंसा सम्पूर्णविश्व करता है। उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तल, मांलविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, मेघदूत, ऋतुसंहार, रघुवंश, कुमारसम्भव, आदि सात ग्रन्थों की रचना की। गम्भीर कवित्त्व भावना से ओत-प्रोत कालिदास की शैली, सरलता, शब्द गुण्ठन, सौन्दर्य, माधुर्य अद्वितीय है। भट्टि, कुमारगुप्तप्रथम आदि इस युग के काव्य विभूति माने जाते हैं।

कालिदास के अनन्तर संस्कृत कवि अश्वघोष का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने बुद्धचरित, सौन्दारानन्द और सारिपुत्रप्रकरण आदि ग्रन्थों की रचना की। अश्वघोष कनिष्क के राजकवि थे। यदि हम संस्कृतनाटककारों की बात करें तो भास का प्रथम स्थान है जिन्होंने संस्कृतभाषा में तेरह नाटकों का सृजन किया। संस्कृत के महानकविभारवि जिन्होंने 'किरातार्जुनीय' को लिखा, यह अट्ठारह सर्गात्मक संस्कृत साहित्य की अद्भुत रचना है। माघ का 'शिशुपालवध' भी इसी के समतुल्य है। प्राचीन गद्यलेखकों में तीन ही विशेष उल्लेखनीय हैं- सुबन्धु, बाण और दण्डी। सुबन्धु ने गुप्तकाल में वासवत्ता लिखकर संस्कृत साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान निश्चित कर लिया। हर्षवर्धन के शासन काल में बाण ने कादम्बरी और हर्षचरित का सृजन कर गद्य सरिता को जलाप्लावित कर दिया। दण्डी पल्लव राजवंश के सभा के महनीय रत्न माने जाते हैं। उन्होंने 'दशकुमारचरित', 'अवन्तिसुन्दरी' और 'काव्यादर्श' नामक तीन ग्रन्थों की रचना की। इनके विषय में डॉ बलराम श्रीवास्तव लिखते हैं कि प्रसिद्ध अलंकार शास्त्री दण्डीन् और उनके ही समकालीन मातृदत्त महाराज नरसिंहवर्मन द्वितीय के संरक्षण में थे। महेन्द्रवर्मन्प्रथम ने मत्तविलास प्रहसन लिखा जिसमें कापालिकों, तांत्रिकों और जैनियों की सामाजिक कुरीतियों को उजागर किया गया है। सम्भवतः प्रसिद्ध नाटिका भगवद्जुणीयाम् भी इसी समय लिखा गया। भागवतपुराण की रचना भी पल्लवों के शासनकाल के अन्तिम चरण की रचना प्रतीत होती है। आठवींशती के बाद तमिल भाषा जन-भाषा के रूप में विकसित हुई। इस समय के पल्लव अभिलेखों में तमिलभाषा का प्रयोग बढ़ा। यद्यपि तमिलकाव्य की रचना में पाण्ड्य संरक्षण का विशेष महत्त्व रहा किन्तु पल्लवों ने भी तमिलकाव्य को प्रश्रय दिया। प्रसिद्ध काव्य 'नन्दिकलम्बकम्' उसका उदाहरण है। तेलारु विजेता नन्दिवर्मन के काल में तमिल 'भारतम्' की भी रचना हुई, जिसे पेटनदेवनार ने प्रस्तुत किया।[1]

बाणभट्ट के आश्रयदाता हर्षवर्धन भी तीन नाटिकाओं की रचना किये- रत्नावली, नागानन्द, प्रियदर्शिका। मृच्छकटिक के लेखक शूद्रक, मुद्राराक्षस के लेखक विशाखदत्त,

1. श्रीवास्तव बलराम, दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1992, पृ. 286।

वेणीसंहार के भट्टनारायण आदि ने भी संस्कृत को समृद्ध किया। भवभूति ने तीन नाटक लिखे- महावीरचरित, मालती-माधव और उत्तररामचरितम्। इन तीनों कृतियों में अद्भुत देशदर्शन की झलक प्राप्त होती है। इसी प्रकार अन्यान्य साहित्यों का भी सृजन इस काल में हुआ जिसका वर्णन यहाँ विस्तार भय से नहीं किया जा रहा है।

कला –

कला शब्द की रचना कल् धातु में अच् और टाप् प्रत्यय के संयोग से हुई है, जिसका अर्थ किसी वस्तु का छोटा अंश, खण्ड, टुकड़ा, चन्द्रमा की रेखा, राशि के तीसवें भाग का साठवाँ अंश आदि होता है।[1] कल धातु आवाज, गणना, आदि अर्थों की भी सूचक हैं। आवाज अर्थात् ध्वनि से हमारा अभिप्राय अव्यक्त से व्यक्त की ओर उन्मुख होना है क्योंकि कलाकार अपने अव्यक्त भावों को कतिपय साधनों द्वारा व्यक्त कर देता है। कलाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व कला से प्रस्फुटित हो जाता है। वह अपने सम्पूर्ण भाव एवं विचार को कला के माध्यम से प्रकट करता है। डॉ रामदत्त भारद्वाज ने कला को परिभाषित करते हुए लिखा है कवि और लास्य इन दोनों शब्दों के प्रथमाक्षरों से कला शब्द निर्मित है। कवि का लास्य ही कला है। इसके अव्यक्तभाव शब्दों के माध्यम से और आनन्दातिरेक के कारण नृत्य करने लगते हैं।[2] इसी प्रकार सभी कलाकार, वास्तुकार, मूर्तिकार, नृत्यकार, चित्रकार, शिल्पकार, आदि अपने अव्यक्त भावों को व्यक्त कर कला रूप में परिणित कर देते हैं।

वास्तव में कला शब्द का अर्थ वह मानवीय क्रिया है जो अप्रकट से प्रकट हो गयी। कला स्वयं कलाकृतियों के उत्पादन के उन मूलभूत नियमों को संकेत रूप में बतलाती है जिनसे उनकी उत्पत्ति तथा प्रत्येक भाग में कला का कोई न कोई रूप नृत्य, संगीत, चित्रण, स्थापत्य आदि का सम्बन्ध रहता है। मानव की कलात्मक चेतना के शारीरिक और मानसिक आधार का विश्लेषण उसके कलात्मक जीवन पर ही निर्भर करता है। अतः कलाकृतियों में उत्पादन में मौलिकचिन्तन की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। कला कलाकार के व्यक्तित्व की परीक्षा है। कला अन्तस् चमत्कार जनक होती है। यह सत्यं शिवं सुन्दरम् रूप में व्याप्त है। संसार का प्रत्येक पदार्थ के मूल में इन्हीं भावनाओं का समावेश मिलता है। सृष्टि के प्रत्येक अङ्ग में कला ही दृष्टिगोचर होती है जिसका प्रत्युत्तर मिलना सा पर संभव नहीं है।

कला और सौन्दर्य –

कलाकार और कवि दोनों सौन्दर्य के उपासक होते हैं। कलाकार अपनी कला में विशिष्ट विभिन्नता उत्पन्न करने की उत्कट अभिलाषा रखता है तो कवि भी अपने

---

1. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, दिल्ली, वाराणसी, 1954, पृ. 256।
2. भारद्वाज डॉ. रामदत्त, काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ. 81।

सृष्टि में चमत्कार तत्त्व को लाने का प्रयास करता है। दोनों को सौन्दर्य आकर्षित करता है। जिसकी कोई नियत सीमा नहीं है, वह अनन्त अपरिमित है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति द्वारा सुख प्रदान करने वाली वस्तु का नाम कला है। क़ला का उद्देश्य मानव के लिए सत्य और सौन्दर्य की सृष्टि करना है। सौन्दर्य के माध्यम से ही कला का दर्शन होता है। कला के द्वारा ही सौन्दर्य का जन्म होता है सौन्दर्य से ही कला पुष्ट होती है। प्रकृति ही सौन्दर्य का उच्चतम प्रतीक है, उसमें सौन्दर्य की पीपासा तृप्त होती है। इसीलिए कलाकार प्रकृतियुक्त कला का सृजन करता है। कला में प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रकाशन के साथ ही साथ हित, नैतिकता, एवं सहृदयता आदि भी परिलक्षित होनी चाहिए। कला में सौन्दर्य इस भाँति होना चाहिए जिससे कलाकार की हृदयगत भावना का प्रकाशन स्पष्टरूप से हो जाय, तभी कला का कलात्व है। 'भारतीय परम्परा के अनुसार कला उन सभी क्रियाओं को कहते हैं जिनमें कौशल अपेक्षित हो। किन्तु कौशल के साथ सौन्दर्य बोध भी कला का आवश्यक अङ्ग है। यूरोपियनशास्त्री भी कला में कौशल अथवा दक्षता को कला का आवश्यक अङ्ग मानते हैं। कौशल के साथ ही कलाकार अपने सौन्दर्य बोध एवं भावनाओं को भी विभिन्न माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त करता है।[1]

कला और जीवन –

संसार विम्ब है तो कला उसका प्रतिबिम्ब। संसार के प्रत्येक रहस्यों उद्घाटन चित्र, मूर्ति, शिल्प, आदि द्वारा यथा रूप में होता है। जीवन के सांसारिक प्रियता की अभिव्यक्ति ही कला है। अतः कला वास्तविकता की अभिव्यक्ति है। कला की तीन प्रकृति होती है। अपने प्रकृति के लोगों को ही वह आनन्दित करती है। वह कला प्रकृति है-

1- कारयितृ (कला का निर्माण करने वाला कलाकार)
2- भोगिन् (कलात्मक रचना का उपभोग करनेवाला)
3- दृष्टा (दर्शन लाभ करने वाला)

कला इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों के जीवन में आनन्द का संचार करती है। कलाकार वस्तुतः स्वान्तः सुखाय ही कला का सृजन करता है। उस दशा में कारयितृ भोगिन्, तथा दृष्टा एक ही व्यक्ति होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला और जीवन में भोज्य एवं भोक्तृ का सम्बन्ध स्थित है। उपभोक्ता के बिना कला का अस्तित्व व्यर्थ है तथा कला से रहित मानव निश्चेष्ट हो जाता है।

---

1. शर्मा डॉ. जवाहरलाल, श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ. 203।

भारतीय कला –

कला अत्यन्त प्राचीनयुग से ही प्रदर्शन का विषय रहा है। वैदिककाल में आर्य प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की स्तुति के साथ ही साथ यज्ञादि भी करते थे। इन यज्ञों में जो वेदिकाएँ आदि का निर्माण किया जाता था, उसी से वास्तुशिल्प कलाओं का जन्म हुआ। क्रमशः इसका विकास होता गया और स्व भावना को व्यक्त करने के लिए इनका स्वरूप भी बनाया जाने लगा। वे अपनी श्रद्धा गीतरूप में व्यक्त करने लगे। इस प्रकार शनैः - शनैः कला का बहुविध विकास हुआ जो आज एक अध्ययन का विषय बन गया।

सङ्गीत –

हृदयरञ्जन में सङ्गीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें. तन्मयता होती है। सहज रूप से लोग इस पर आकृष्ट हो जाते हैं। सङ्गीत का श्रवण कर मानव पारलौकिक रस का आस्वादन करता है। सारङ्गदेव ने सङ्गीत रत्नाकर में लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति सङ्गीत से ही सम्भव है। संगीत प्रेमियों में शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, पार्वती आदि देवी-देवता, कश्यप, नारदादि महर्षि, भोज, सोमेश्वर आदि राजा अभिनवगुप्त जैसे आचार्य सम्मिलित हैं। दण्डिकालीन समाज में नृत्य-गीत का वर्णन बहुविध रूप से प्राप्त है जिसका उल्लेख सांस्कृतिकजीवन नामक अध्याय में किया गया है।

स्थापत्य कला –

दण्डिकालीन भारत स्थापत्य के क्षेत्र में प्रगति पथ पर था। दण्डीकृत नगरों, दुर्गों, प्रासादों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थापत्यकला एक व्यवस्थित एवं उन्नत रूप को प्राप्त कर चुका था। दशकुमारचरित के प्रारम्भ में ही पुष्पपुरी के वैभव का वर्णन किया गया है। वह भूमण्डल की समस्त नगरियों की जाँचने की कसौटी तथा असंख्य दुकानों को फैलाये हुए रत्नादि के द्वारा समुद्र की मणियों के महत्त्व को अर्थात् रत्नाकर शब्द को प्रकाशित कराने वाली मगधदेश की शिरोभूषण पुष्पपुरी नाम की नगरी है।[1] यह नगर अनेक प्रकार से सुसज्जित एवं धन-धान्य से सम्पन्न है। स्थापत्य कला का यथार्थ स्वरूप 'दशकुमारचरित' के उपहार वर्मा की कथा में जब वह कल्पसुन्दरी से मिलने जाता है तो प्राप्त होता है।[2] राजमन्दिर के चारों ओर परिखा (खाई) होती थी नगर चहारदीवारी (प्राचीर) से घिरा होता था। नगर में प्रवेश

1. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ0 4 – अस्ति समस्त नगरी निकषायमाणा शश्वदगण्यपण्यविस्तारितमणिगणादि वस्तु जात व्याख्यात-रत्नाकर महात्म्या मगधदेशशेखरीभूतापुष्पपुरीनामनगरी।
2. वही, तृतीयोच्छ्वास, पृ0 234-236।

के लिए द्वार होता था जो पक्के इटों से बना हुआ था। अन्दर अनेक जलाशयों के साथ मार्ग बने हुए थे। मार्ग पर चम्पकों एवं बकुल के वृक्ष शोभायमान होते रहते थे। राजमहल की विशाल दिवारें बनी होती थी। राजभवन के अन्दर भी उपभवन सुशोभित होते थे। राजमहल के अन्दर वासगृह होता था जिसे आभ्यन्तर गृह भी कहा जाता था। इसमें किवाड़ लगा होता था। इस प्रकार राजमहल सब प्रकार की सुविधाओं से युक्त होता था। पल्लवकाल में शिक्षा वास्तुशैली का क्रमोत्तर रूप से विकास होता रहा। इस विकास में पल्लवनृपों का विशेष योगदान था। अतएव विद्वानों ने इस क्रम के राजाओं के शासनक्रम से चार वर्गों में विभाजित किया है-

1- महेन्द्रशैली (610-640 ई.) किन्तु इस शैली का निर्वाह लगभग आठवीं शताब्दी तक होता रहा।
2- मामल्लशैली (640-674 ई.)
3- राजसिंहशैली (674-800 ई.)
4- नन्दिवर्मनशैली (800-900 ई.)

प्रथम दो आरम्भिक शैलियों के अन्तर्गत गुफा-मंदिरों (मण्डपों) और रथों को उत्कीर्ण किया जाता था। अन्तिम दो शैलियों के अन्तर्गत संरचनात्मक मन्दिरों, राजप्रासादों का निर्माण हुआ।

चित्रकला –

वैदिक युग से ही चित्रकला का आरम्भ हम देखते चले आ रहे हैं। वैदिक समाज में यज्ञकुण्डों पर बनी वेदी अनेक चित्रों से चित्रित मिलती है। चावल, आटा, तिल आदि को रङ्ग करके वेदी पर सजाया जाता है, जो चित्रकला का प्रतीक है। दण्डिकालीन–समाज भी चित्रकला से अवगत था। वह अपने हृदय की अभिव्यक्ति चित्रकला के माध्यम से करता था। चित्रकला की हार्दिक अभिव्यक्ति हम वहाँ पाते हैं, जहाँ सुप्तावस्था में राजकुमारी 'अम्बालिका' को देखकर 'अपहारवर्मा' रंगीन चिकनीलाह से उसका यथावत् चित्र खींचकर अपने को उसके पैरों के नीचे हाथ जोड़ते हुए बनाकर एक आर्यावृत्त लिख देता है।[1] इस चित्र के माध्यम से वह राजकुमारी से प्रणय की याचना करता है। वह अपने हृदयगत भाव को प्रकट कर देता है। वह राजकुमारी के सौन्दर्य को देखकर उसपर अनुरक्त हो जाता है और चित्र बनाकर राजकुमारी से प्रणय का निवेदन कर देता है। इस प्रकार उसका अव्यक्त भाव चित्रकला

---

1. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 203–4 – नागदन्तलग्ननिर्यासकल्कवर्णितं फलकमादाय मणिसमुद्रकाद्वर्णवर्तिकामुद्धृत्य तां तथाशयानां तस्याश्च मामावद्धाञ्जलिं चरणलग्नमालिखमार्या चैताम्।

द्वारा व्यक्त हो जाता है, यही कला का वैशिष्ट्य है। वहीं पेटी से सुवासित पान को खाकर महावर के रस के समान उस पान की पीक (थूक) को चूने की दीवाल पर ऐसा थूक दिया कि वहाँ चित्रगत चक्रवाक–दम्पति प्रतीत होने लगे।[1] उसके पीक से बना चक्रवाक–दम्पति से वह दाम्पत्य जीवन के रूप में सदैव साथ रहने की कामना करता है। 'कल्पसुन्दरी' को आकृष्ट करने के लिए 'अपहारवर्मा' स्वनिर्मित अपना चित्र देता है। इस चित्र के सौन्दर्य को देखकर कल्पसुन्दरी आश्चर्य व्यक्त करती है।[2] अन्य स्थलों पर भी चित्रपट का आचार्यदण्डी ने उल्लेख किया है। प्रमति स्वप्नावस्था में युवती को देखकर उस पर मोहित हो जाता है और श्रावस्ती पहुँच जाता है। जहाँ एक कुमारी उसका चित्र लेकर उसे ढूँढती हुई पहुँचती है।[3] 'कलहकण्टक' एक दिन दूसरे देश से आये हुए रंगाजीव (चित्रकार) के हाथ में एक युवती के चित्रपट को देखकर उस पर अनुरक्त हो जाता है।[4] ये सभी चित्र हाथ से ही बनाये गये थे। अतः दण्डिकालीन लोक में चित्र निर्माण की परम्परा विद्यमान थी। अवन्तिसुन्दरी कथा में भी अनेक चित्रों का प्रसंग मिलता है। दीवारों पर भी चित्र निर्मित किये जाते थे, जिन्हें अनेक रंगों से सजाया जाता था। वस्त्रों पर चित्रों की छपायी होती थी।[5] अनेक प्रकार की चित्रकारी की जाती थी। वासुदेवशरण अग्रवाल 'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन' में वस्त्रों की छपाई पर बहुत विस्तार से उल्लेख करते हुए लिखते हैं "गुप्तकाल और उसके बाद की शिल्पकला एवं चित्रकारी में फूल–पत्तियों के भाँति–भाँति के कढ़ाई की प्रथा उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच गई थी। अजन्ता की चित्रकला में और अनेक वास्तुमूर्तियों में इसका प्रमाण मिलता है। पत्रलता या पल्लव बनाने की प्रवृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण सारनाथ के धम्मेख–स्तूप के बाह्य आवरण या शिलापट्टों पर मिलता है।"[6] इस प्रकार वस्त्रों पर चित्रांकन की परम्परा बहुत प्राचीनसमय से ही विद्यमान थी, जो दण्डिकालीन समाज में भी यथावत् देखने को मिलती है। जहाँ तक चित्रपट की बात है तो यह संस्कृत के अनेक ग्रंथों में प्राप्त होता है। 'उत्तररामचरितम्' के प्रथम अंक में वनवासकालीन चित्रों के अवलोकन से ही इस अङ्क का नाम

---

1. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, 2004, पृ. 204।
2. वही, तृतीयोच्छ्वास, पृ. 222–23।
3. वही, पञ्चमोच्छ्वास, पृ. 306।
4. वही, षष्ठोच्छ्वास, पृ. 336।
5. अवन्तिसुन्दरी, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 35।
6. अग्रवाल वासुदेव शरण, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1999, पृ. 75।

चित्रवीथिअङ्क रखा गया। यहाँ राम, लक्ष्मण और सीता अनेक चित्रों को देखते हैं, जिन्हें अर्जुन नामक चित्रकार ने बनाया था।[1] 'रत्नावली' में सागरिका ने राजा उदयन का कामदेव के रूप में चित्र निर्माण किया था तभी सुसंगता रति रूप में वहीं सागरिका का भी चित्र बना देती है।[2] वहाँ चित्र को रँगने के लिए कूची, रंग, आदि का वर्णन किया गया है। चित्र को रँग देने से उसका स्वरूप और आकर्षक हो जाता है। चित्र–रँगाई भी एक कला है। जो प्राचीनभारत में अनेक रूपों में प्राप्त होती है। 'मालतीमाधव' में भी आया है कि जब माधव के चित्र को कलहंस लेकर आता है, तभी माधव उसी चित्र के बगल में अपना चित्र भी बना देता है।[3] इस प्रकार से प्राचीन काल से ही चित्राकृति बनाने की परम्परा देखने को मिलती है। कविदण्डी ने भी इसके निर्माण की परम्परा को अपनी कृतियों द्वारा समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है।

मूर्तिकला –

कलाओं में मूर्तिकला का इतिहास पुरातन् है। सिन्धुघाटी सभ्यता से ही किसी न किसी रूप में कलाकृति का मूलतत्त्व मूर्तिकला रही है। तत्कालीन लोग अनेक देवी–देवता की मूर्ति बनवाकर आराधना करते थे। "इस सभ्यता के पश्चात् लगभग 1500 वर्ष बाद मौर्ययुग के आगमन होने पर पुनः कला अपने यौवन की लालिमा लिए आविर्भूत हुई। इस काल में लौरियानन्दगढ़ की एक मृतक समाधि में नग्न नारी की स्वर्ण प्रतिमा मिली है, जो कला के विकास की कहानी को व्यक्त करती है।"[4] इसी क्रम में 'गुप्तकाल' में भी मूर्तिकला अपने चरमोत्कर्ष अवस्था में थी। इस काल में एक प्रस्तर खण्ड पर खड़ी शिव–पार्वती की विलक्षण मूर्ति कौशाम्बी में मिली है। ललितपुर-झाँसी में देवगढ़ का गुप्तकालीन मन्दिर कला का जीता जागता आदर्श है। इस काल की भगवानबुद्ध की आसीनावस्था में सारनाथ की मूर्ति तथा मथुरा की खड़ी मूर्ति महत्त्वपूर्ण है। सारनाथ की मूर्ति धर्म–चक्र प्रवर्तन की मुद्रा में स्थित है। मथुरा की बुद्धप्रतिमा लगभग 7 फुट से कुछ अधिक अभयमुद्रा का प्रकाशन करती है। "शिलालेखों और सिक्कों के अतिरिक्त गुप्तकाल की बहुत सी मूर्तियाँ, मन्दिर, स्तम्भ व अन्य अवशेष इस समय उपलब्ध हैं। इनसे उस युग की कला और शिल्प का अच्छा ज्ञान होता है। इस काल में बौद्ध, शैव, वैष्णव और जैन सभी सम्प्रदायों से

---

1. उत्तररामचरितम्, साहित्य भण्डार मेरठ, 2004, अंक 1, पृ. 44 – अर्जुनेन चित्रकरेणास्मदुपदिष्टमार्यस्य चरितमस्या वीश्मामभिलखितम्।
2. रत्नावली, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1986, अंक – 2, पृ. 46।
3. मालतीमाधवम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1998, अंक 1, पृ. 71।
4. सिंह एवं यादव, प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा 1988, पृ. 66।

सम्बन्धित मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं।''[1] 'पल्लवराजवंश' में भी अनेक मूर्तियों का वर्णन आया है। तत्कालीनसमाज में मूर्तिकला की अनेक शैली व्यवहार्य थी। यहाँ 'महेन्द्र-शैली' के अतिरिक्त 'मामल्य-शैली', 'राजसिंह-शैली' और 'अपराजित-शैली' मूर्तिकला की प्रमुख शैलियाँ थी। पल्लव मूर्तिकला की विशेषता बतलाते हुए बलराम श्रीवास्तव कहते हैं ''पल्लव'- मूर्तिकला मात्र वास्तु के आधार पर नहीं टिकी थी, प्रत्युत यहाँ के शिल्पी स्वतंत्र रूपों की परिकल्पना और विन्यास में भी मौलिक और दक्ष होते थे। ऐसी रचनाओं में कथात्मक, दृश्याङ्कन की दृष्टि से गङ्गावतरण का दृश्य और स्वतन्त्र पशु की दृष्टि से कपियुग्म की रचना विश्वविख्यात है।''[2] इस प्रकार 'पल्लवराजवंश' ने मूर्तिकला को प्रश्रय दिया था, तथा इस समय की मूर्तिकला आज उदाहरण का केन्द्रबिन्दु बनी हुई है। 'कविदण्डी' भी पल्लव राजवंश के मणि थे, इनकी रचनाओं से भी मूर्तिकला का विकास परिलक्षित होता है। दण्डी की प्रमुखकृति दशकुमारचरित में दो बार दुर्गा-मन्दिर का उल्लेख आया है। प्रथम तब जब बालक 'उपहारवर्मा' को किरातवरों द्वारा 'चण्डी-मन्दिर' के सम्मुख बलि के निमित्त उपक्रम किया जा रहा था[3] और दूसरा, जब विश्रुत राजकुमार को लेकर दुर्गा-मन्दिर में पहुँचता है, जहाँ दुर्गा-प्रतिमा का भी उल्लेख किया गया है।[4] इसके अतिरिक्त अन्य मन्दिरों एवं शिवालय आदि का भी वर्णन दण्डी-साहित्य में मिलता है, जो तत्कालीन मूर्तिकला के नमूने हैं। 'हरिवंशपुराण' में भी मूर्तिकला का सङ्केत मिलता है, वहाँ उल्लिखित है- ''मन्दिर के गर्भगृह में सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित 500 धनुष तथा 108 ऊँची जिन-प्रतिमायें थी।[5] 'श्रीमद्भागवत पुराण' में अष्टप्रकार की प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है।[6] जो पाषाण, काष्ठ, लौह, मृत्तिका, बालुका और मणि से बनी हुई हैं। देवी-देवताओं के अतिरिक्त पशु-पक्षियों की भी प्रतिमा-निर्माण का उल्लेख मिलता है। 'श्रीमद्भागवतपुराण' में वर्णित है कि 'कर्दममुनि' के द्वारा निर्मित विमान में अनेक कृत्रिम कबूतर आदि भी बने हुए थे। ये इतने सुन्दर थे कि अनेक हंस व कबूतर आदि

---

1. विद्यालंकार सत्यकेतु, भारतीय संस्कृति का विकास, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली - 29, 1998।
2. श्रीवास्तव बलराम, दक्षिण भारत, चौ.वि.भ., वाराणसी 1992, पृ. 305।
3. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र. वाराणसी, पृ. 27।
4. वही, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 4-51 - प्रागेवतस्मिन्दुर्गागृहे प्रतिमाधिष्ठान एव मया कृतं भग्न पार्श्वस्थैर्य स्थूलप्रस्तरस्थगितवाह्यद्वारं विलम्।
5. हरिवंश पुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2066, 4/362।
6. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 11/27/12।

इन प्रतिमाओं को सजीव मानकर इनके समीप बैठकर पूजा करते थे।[1] ब्रह्मपुराण में भी आया है कि राजा इन्द्रद्युम्न ने कृष्ण और सुभद्रा की प्रतिमा बनवाई थी।[2] इस प्रकार प्राचीनसाहित्य में मूर्तिकला का उल्लेख प्राप्त होता है।

वस्त्रनिर्माणकला –

दण्डिकालीन–समाज की हस्तकलाओं में विशेष रूचि थी। वे अपनी आवश्यक–सामग्री का निर्माण स्वयं करते थे। वे पहनने के लिए वस्त्रों का निर्माण अपने हाथों से ही करते थे। रेशम, क्षौम, पट्टसूत्र, सन, तसर, कपास, ऊन, चर्म आदि द्वारा वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। इनकी रचनाओं में चिनांशुकवस्त्र का वर्णन आया है, यह 'चीनदेश' का बारीक रेशमीवस्त्र होता था।[3] 'रामायण' में भी उल्लिखित है कि रावण की पत्नी सोते समय सिल्क (रेशमी) निर्मित कपड़ा धारण करती थी।[4] राजाजनक ने सीता को दहेजरूप में काफी रेशमीवस्त्र दिये थे।[5] दण्डिकालीन लोक में चमड़े को भी वस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता था। तत्कालीनसमाज में चमड़े का व्यापार भी होता था। 'विश्रुत' से जो बहेलिया मिला था, वह बाघ के चमड़े से बनी पिटारी को माहिष्मती से विक्रय कर लौटा था।[6] चमड़े का वस्त्र भी बनाया जाता था, जिसे साधु–सन्त लोग धारण करते थे। 'हरिवंशपुराण' के एक सन्दर्भ में 'चर्माम्बर' शब्द का वर्णन आया है।[7] जिससे कुछ पशुओं के चमड़ों का वस्त्र के रूप में उपयोग प्रकट होता है। 'अनन्तवर्मा का सेवक विहारभद्र त्यागमय जीवन को कोसते हुए मृगचर्म की लंगोटी धारण करने का उल्लेख किया है।'[8] 'चमड़े से भाथी बनाई जाती थी।'[9] इस प्रकार चमड़े का बहुविध प्रयोग दण्डिकालीन–समाज में विद्यमान था।

दण्डिकालीन समाज में सिले हुए वस्त्र धारण किये जाते थे। 'स्त्रियाँ चोली धारण करती थीं',[10] जिसे सिलाई द्वारा तैयार किया जाता था। पुरुष वर्ग अपने शरीर को

---

1. श्रीमद्भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2062, 3/23/20।
2. ब्रह्मपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2060, 50/24–27।
3. दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 200।
4. रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2064, श्लो. 5/9/53–54, 5/9/60।
5. वही, 1/5।
6. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 444।
7. हरिवंशपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2060, 26/18।
8. दशकुमारचरितम्, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 417।
9. वही, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 167।
10. वही, पञ्चमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 299।

कसने के लिए मजबूत कच्छ बाँधता था।[1] इस प्रकार सिले हुए वस्त्र तत्कालीन समाज में प्रचलित थे। कामशास्त्र में सिलाई की गणना चौसठकलाओं में की गई है।[2] अमरकोश में जो सिलाई का कार्य करता था उसे दर्जी कहा गया है।[3] इस प्रकार सिलाई का कार्य अत्यन्त प्राचीनकाल से ही विद्यमान था।

काष्ठकला –

दण्डिकालीन–समय में लकड़ी द्वारा भी अनेक उपयोगी वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। लकड़ी से विशेष प्रकार का जलयान बनाया जाता था। व्यापारादि उस समय जलयान के माध्यम से ही किये जाते थे।[4] 'अर्थशास्त्र' से भी जानकारी मिलती है कि नावों एवं पोतों के निर्माण करने पर राज्य का राजनीतिक एवं व्यापारिक महत्त्व बढ़ जाता था।[5] सामान का वहन करने के लिए लकड़ी की गाड़ी होती थी, जिसे बैलों द्वारा खींचा जाता था।[6] राज्य में शत्रुओं के पकड़े जाने पर उन्हें कांष्ठनिर्मित जंगलेदार पिंजड़े में बन्द कर दिया जाता था।[7] आचार्य 'मनु' काष्ठशिल्प के अट्ठारह सन्दर्भ दिये हैं। पल्लवकालीन समाज में काष्ठकला उन्नत अवस्था में था। 'मनु' ने कहा है कि दैनिकजीवन में प्रयुक्त अनेक वस्तु लकड़ी द्वारा निर्मित होती है। इनमें हल, ढाल, फावड़ा, रथ, विस्तर, ऊँटगाड़ी, घोड़ागाड़ी, मूसल व अन्य उपयोगी वस्तुएँ महत्त्वपूर्ण हैं।[8] दण्डिकालीनसमाज में काष्ठरथ भी होता था जिसे घोड़े खींचते थे।[9] आचार्यदण्डी ने 'मूसल' और 'ओखली' का भी वर्णन किया है, जो काष्ठनिर्मित ही होती थी।[10] मूसल के ऊपर लोहे की सामी लगी होती थी तथा जो बीच में क्षीण और ऊपर–नीचे सम अवयवी था, मूसल खदिर की लकड़ी का बनता था।[11] इससे चावल निकाला जाता था। चावल आदि को पछोरने के लिए सूप होता था।[12] सूप

1. दशकुमारचरितम्, तृतीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 233।
2. कामशास्त्र, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1/3/5।
3. अमरकोश, इन्दिरा प्रकाशन, 1972, 2/10/7।
4. दशकुमारचरितम्, प्रथम एवं चतुर्थोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, 31, पृ. 64।
5. अर्थशास्त्र, भा.वि.प्र., वाराणसी, 1990, 2/28।
6. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 68।
7. वही, प्रथमोच्छ्वास उत्तरपीठिका, पृ. 114।
8. मनुस्मृति, सं.सं., बरेली, 2000, 4/46, 5/117, 7/220–222, 8/285, 11/202।
9. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 20C4, पृ. 16, 18।
10. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 351।
11. वही, प्रथमोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 352।
12. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 353।

भी नरई (कास) आदि द्वारा बनाया जाता था। इस प्रकार काष्ठकला दण्डीकालीन समाज में उन्नत अवस्था में था।

लौहकला –

लोहे द्वारा अनेक वस्तुओं का भी तत्कालीन समाज में निर्माण किया जाता था। लोहे द्वारा दृढ़ कवच, धनुष, वाण, जिरह, वख्तर आदि बनाए जाते थे।[1] आचार्यमनु ने अपने ग्रन्थ मनुस्मृति में शस्त्रशिल्पं के उन्नत अवस्था का सङ्केत किया है।[2] शस्त्रों में तीर, भाले, आदि बनाये जाते थे। दण्डी ने लोहे के अनेक प्रकार की और भी वस्तुओं का उल्लेख किया है। कमर में लोहे का बघनखा लगाया जाता था।[3] मिट्टी खोदने के लिए कुदाल होती थी, जो लौह निर्मित होती थी।[4]

आभूषणकला –

दण्डिकालीन–समाज आभूषण प्रिय समाज था। वे लोग शारीरिक सौन्दर्य के लिए अनेक प्रकार के आभूषण का प्रयोग करते थे। सोना, चाँदी, हीरा आदि से आभूषणों का निर्माण किया जाता था। वे लोग रत्नजड़ित आभूषण धारण करते थे।[5] आभूषण सौन्दर्य के साथ–साथ स्वास्थ्यवर्धक भी माना जाता है। स्वर्णमय आभूषण, स्वास्थ्य और आयु को बढ़ाते हैं।[6] कल्हण ने विविध रत्नों के प्रभावों का वर्णन किया है।[7] ज्योतिषशास्त्र में रत्नों को क्रूरग्रहों की शान्ति के लिए धारण करने के निमित्त बताया गया है। आभूषण वैभव का चिह्न भी माना जाता था। अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिए तत्कालीन समाज में लोग इसे धारण करते थे।

मिट्टीकला –

दण्डिकालीन समाज में मिट्टी के बर्तन बनाने की कला का भी वर्णन मिलता है। 'शक्तिकुमार' द्वारा दिये गये धान से कन्या की माता उससे चारा पृथक् करके सुनारों को बेच देती है, और पैसे प्राप्त कर स्वल्पपाचिनी हड़िया एवं दो मिट्टी के ढक्कन को ले आती है, जिसमें भोजन बनाया जाता है।[8] आचार्य मनु भी मिट्टी के

---

1. दशकुमारचरितम्, चतुर्थोच्छ्वास, पूर्वपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 59।
2. मनुस्मृति, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2000, 3/64, 100।
3. दशकुमारचरितम्, प्रथमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 125।
4. वही, सप्तमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 397।
5. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 329।
6. अथर्ववेद, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, 1960, 19/26/1।
7. राजतरङ्गिणी, चौ.सं.प्र., दिल्ली, 1985, 4/331।
8. दशकुमारचरितम्, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 352 – "मितंपचां स्थालीभुभे शरावे चाहर"।

बर्तन का उल्लेख करते हैं।[1] मिट्टी का बर्तन चक्र (चाक) के माध्यम से बनाया जाता था। इसमें पका भोजन उत्तम स्वादयुक्त होता है।

तैलकला –

तत्कालीन समाज में तेल का भी निर्माण किया जाता था, तिल के तेल का उल्लेख आया है।[2] तिलों की पेराई की जाती थी। इंगुदी का तेल घाव आदि पर लगाया जाता था।[3] 'अभिज्ञानशाकुन्लम्' में भी कालिदास ने हिरण के घाव पर हिंगोट का तेल लगाने का उल्लेख करते है।[4] तेल का प्रयोग भोजन–निर्माण में भी किया जाता था। इससे भोजन स्वादयुक्त एवं स्वास्थ्यप्रद होता है।

रस्सीनिर्माणकला –

दण्डिकालीन–समाज में अनेक प्रकार की लताओं से रस्सी का निर्माण किया जाता था। रस्सी का प्रयोग वस्तुओं को बाँधने तथा जल खींचने में किया जाता था। 'विश्रुत' 'नालिज' को कुएँ से निकालने के लिए कुछ लताओं को एकत्र करके रस्सी बनाता है, तथा अन्ततः उसी से निकालता है।[5] धूमिनी ने धन्यक को रस्सी सहित कुएँ से जल निकालने के लिए जलपात्र देती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दण्डिकालीन समाज में रस्सी निर्माण करने की कला विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की कलाओं का उनकी कृतियों में उदाहरण मिलते हैं।[6] कुएँ से जल निकालने के लिए वंसनलि का प्रयोग किया जाता था। बैठने के लिए घास–फूस की चटाई तथा पुष्पों की माला का वर्णन मिलता है। दण्डी ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थान पर पुष्पों की माला का उल्लेख किया है जो तत्कालीन पुष्प शिल्पकला का द्योतक है।[7] तत्कालीन युग में पुष्पों के प्रमुख उपयोग की सूचना मिलती है। पुष्पों की मालाएँ एवं आभूषण धारण किये जाते थे।[8] इससे पुष्पों की खेती तथा पुष्पों की मालाएँ आदि बनाने वाले मालियों या मालावरों के व्यवसाय का नमूना प्राप्त होता है।

□□□

---

1. मनुस्मृति, संस्कृति संस्थान, बरेली, 8/289।
2. दशकुमारचरितम्, सप्तमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ. 403।
3. वही, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 343।
4. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कृ.दा.अ., वाराणसी, 1991, 4/14।
5. दशकुमारचरितम्, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, चौ.अ.भा.प्र., वाराणसी, 2004, पृ.411।
6. वही, षष्ठोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 344।
7. वही, अष्टमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, पृ. 412।
8. हरिवंशपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2060, 7/88, 26/21, 36/29।

सारांश

संस्कृत साहित्य के महान् कवि आचार्य दण्डी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी लेखनी की गरिष्ट विशेषता यह है कि वह सामाजिक जीवन के यथार्थ स्वरूप का चित्रण करने में पूर्णतः समर्थ है। बिना किसी राग-द्वेष से सामाजिक मूल्यों के ह्रास को इङ्गित करते हुए कवि समाज को आगाह किया है कि जीवन का सही स्वरूप क्या होना चाहिए? उन्होंने स्त्री-पुरुष के विभिन्न व्यक्तित्व का चित्रण इसी उद्देश्य से किया है। तत्कालीन छल-प्रपञ्च का जितना वर्णन कवि दण्डी की कृतियों में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। यहाँ दम्भी, कपटी, छली, संन्यासी, ब्राह्मण, वेश्याएँ एवं कुलीन स्त्रियों का अङ्कन इतनी रोचकता के साथ किया गया है कि उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पाठकों के हृदय पर पड़ता है। अपहारवर्मा के प्रसङ्ग में काममञ्जरी नामक वेश्या मरीचितापस को कितनी विदग्धता तथा चातुर्य से ठगती है, यह देखने का विषय है। वह वेश्या महर्षि को अपने रूप-यौवन पर मोहित कर उन्हें कामोत्सव के लिए सहमत कर लेती है। दण्डी को नारी-हृदय की परख में निपुणता थी। कही पतिवञ्चक क्रूर हृदया नारी का जघन्य चित्र है तो कही पतिप्राणा, पतिव्रता के कोमल हृदय का मनोरम दृश्य दिखायी पड़ता है। घूमिनी स्त्री हृदय की क्रूरता का जघन्य प्रतीक बनी है तो गोमिनी पतिपरायण सती गृहिणी की उज्ज्वल मूर्ति है। वसुमती और अवन्तिसुन्दरी पतिजीवन को अपना जीवन मानने वाली हैं तो कल्पसुन्दरी और बालचन्द्रिका पति की हत्या कराकर प्रेमी के साथ सुख पर विश्वास करने वाली हैं। गत अध्यायों में सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन के विस्तृत विवेचन से प्रकट होता है कि तद् युगीन जन-जीवन अस्थिरता पूर्ण था, तथापि राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन पर उसका प्रभाव नगण्य था। राष्ट्र की सामाजिक एवं धार्मिक चेतना की जागृति स्वभावगत स्थिर थी। सांस्कृतिक जीवन धारा राजनीतिक व आर्थिक घटनाओं से अप्रभावित होकर निरन्तर प्रवाहमान थी।

सामाजिक जीवन का अध्ययन करने के लिए भौगोलिक क्षेत्रों का परिज्ञान प्रथम आवश्यकता होती है। इसीलिए इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में कविपरिचय के अनन्तर तत्कालीन भौगोलिक स्वरूप का वर्णन दण्डी के ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। जिसमें राज्य, नगर, नदी, पर्वत, पठार, जङ्गल, सागर आदि को उल्लिखित किया गया है। फलस्वरूप अङ्गदेश की राजधानी चम्पा, श्रावस्ती, काशी, सुह्मप्रदेश का दामलिप्तनगर

और कलिङ्गदेश से लेकर पश्चिम में उज्जयिनी, सौराष्ट्र, विदर्भप्रदेश नर्मदा के तट के दूसरे राज्य अवन्ती, मालवा, त्रिगर्त एवं इनके बीच में पूर्वी से पश्चिमी समुद्र तक फैला विन्ध्य कान्तारों का स्वरूप उभर कर सामने आ जाता है।

दण्डिकालीन जन-जीवन में वर्ण-व्यवस्था का व्यापक प्रभाव था। चारों वर्णों में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च थी। ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन, क्षत्रिय राज्य कार्य एवं वैश्य कृषि, पशुपालन, व्यवसाय से सम्बन्धित थे। शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करता था तथा उसी से अपना भरण-पोषण भी करता था। आश्रम-व्यवस्था चार आश्रमों में विभक्त थी, ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम की ओर समाज का झुकाव अत्यधिक था। वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम का पालन भी तद्युगीन व्यवहार में था। विरक्त होने पर संन्यासी ही नही, बौद्ध क्षपणक भी होते थे। बौद्ध क्षपणक होने वाले अधिकांश वैश्य व्यापारी थे। धन का विनाश या स्त्री का नष्ट होना वैराग्य के कारण थे। बौद्ध क्षपणक और भिक्षुणियाँ मठों या मठिकाओं में रहती थी। बौद्ध क्षपणक के अपने स्वधर्म (वैदिक धर्म) में लौट आने का भी उल्लेख है। वैष्णव, शैव, जैन, बौद्ध आदि धर्मों का तत्कालीन समाज में प्रभाव था। पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि दण्डिकालीन जीवन का निकष था। लोग धर्म, अर्थ और काम को अत्यधिक महत्त्व देते थे। संस्कारों के सम्बन्ध में सभी संस्कारों के विषय में यहाँ पर्याप्त सूचना नहीं मिलती है। यहाँ सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह एवं अन्त्येष्टि संस्कार आदि का वर्णन प्राप्त होता है। विवाहसंस्कार में ब्रह्मविवाह के अतिरिक्त गान्धर्वविवाह को प्रमुखता दी जाती थी।

समाज का जीवनस्तर सामान्य था। लोग अपने घरों एवं महलों में सुखपूर्वक रहते थे। शालि, ब्रीहि, यव, कोदव, उड़द, मसूर आदि उस युग के प्रमुख खद्यान्न थे। शाक, चावल, दाल, खीर, मट्ठा, रस, फल, दूध, दही, घृत, आमलक भोजन के अङ्ग थे। खाये जाने वाले फलों में आम, केला, बेर, जामुन, दाडिम और नारिकेल आदि प्रमुख थे। लोग मधु और मद्य भी ग्रहण करते थे। भोजनोपरान्त ताम्बूल सेवन भी दण्डिकालीन समाज में प्रचलित था। लोग अत्यधिक शृङ्गारप्रिय थे। स्त्री-पुरुष दोनों ही भाँति-भाँति के वस्त्र एवं आभूषण पहनते थे और सुगन्धियाँ लगाते थे। स्त्रियाँ दो वस्त्र धारण करती थी, एक अधःवस्त्र और दूसरा ऊपर का उत्तरीय। उत्तरीय वक्षस्थल को ढकने के लिए होता था। राजकुमारियाँ चीन देश का रेशमी वस्त्र पहनती थी। आभूषणों के साथ केशों को पुष्पमालाओं से सजाती थी तथा कान में तमाल आदि को धारण करती थी। शय्या पर फूलों की पंखुड़ियाँ विखेर दी जाती थी। भृङ्गारपात्र में पीने का जल अगरु और पाटल पुष्पों से सुगन्धित कर रखा जाता था। समाज में अनेक उत्सव-महोत्सव हुआ करते थे। यहाँ बजाये जाने वाले अनेक प्रकार के

वाद्यों का उल्लेख है। सङ्गीत, नृत्य, अभिनय मनोरञ्जन के अत्यन्त प्रिय साधन थे। लोगों द्वारा जलक्रीड़ा, आखेटक्रीड़ा, इन्द्रजाल, कन्दुकक्रीड़ा करने का उल्लेख दण्डी की कृतियों से प्राप्त होती है। कुक्कुटों का युद्ध भी उत्सव का अङ्ग हुआ करता था।

राज्य की सप्ताङ्ग प्रकृतियों में स्वामी, अमात्य, भूप्रदेश, कोष, सेना, दूर्ग एवं मित्र (राज्य) का महत्त्व प्रतिपादित है। राज्य का परम उद्देश्य प्रजा का हित साधन था। राज्य जनता के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति में सहायक था। राजा के राजकार्य में सहायता के लिए मन्त्रि-परिषद् होती थी। इसमें एक प्रधान मन्त्री होता था जो राजा से सभी विषयों पर विचार-विमर्श कर उचित सलाह देता था। राज्य की सुरक्षा सैन्य-बल द्वारा होती थी। सेना के चार अङ्ग हुआ करता था, यथा- रथ, गज, अश्व और पैदल। राजाओं के कारागार सामान्य थे। कारागार से भागना आसान था। मतवाले हाथी से प्राणदण्ड दिये जाने का नियम था लेकिन प्राणदण्ड पाने वाला व्यक्ति यदि हाथी को पछाड़ देता था तो उसे मुक्त कर दिया जाता था।

दण्डिकालीन जीवन कृषि, पशुपालन, एद्योग आदि पर अवलम्बित था। वस्त्रोद्योग, काष्ठोद्योग, धातूद्योग, चर्मोद्योग, तैलोद्योग, भाण्डोद्योग, मालोद्योग, सूरोद्योग आदि का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। यहाँ व्यापार करने के लिए एक केन्द्र बनाया गया था। जहाँ सभी व्यापारी इकट्ठा होते थे तथा वस्तु का क्रय-विक्रय उचित मूल्य देकर करते थे। दण्डी ने दीनार एवं कौणी को मूद्रा रूप में उल्लेख किया है। नाव या घोड़ागाड़ी से व्यापार होता था।

समाज की रीढ़ शिक्षा, साहित्य एवं कला को माना जाता है। अतः शिक्षक, शिष्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण केन्द्र, सहशिक्षा के साथ स्त्री शिक्षा का भी उल्लेख दण्डी की कृतियों में प्राप्त होता है। शिक्षा ही समाज को उन्मुख कर उनका मार्ग प्रशस्त करती है। तत्कालीन युग में अनेक संस्कृत व अन्य भाषाओं में ग्रन्थ लिखे गये। दण्डी ने सामाजिक जीवन के अन्तर्गत कला को भी स्थान दिया है। कला ही मानव हृदय की परख होती है। नगरों, दूर्गों, प्रासादों के वहुविध वर्णन से स्पष्ट हो जाता हैं कि स्थापत्य कला उन्नत अवस्था में थी। चित्रकला भी दण्डी युग में प्रगति पथ पर था। अपहारवर्मा राजकुमारी अम्बालिका का चित्र बनाता है। कल्पसुन्दरी को आकृष्ट करने के लिए भी अपहारवर्मा स्वनिर्मित अपना चित्र देता है। कलहकण्टक से भी एक चित्रकार मिलता है जो एक युवती का चित्र बनाकर रखा था। अनेक प्रकार की मूर्तियाँ भी बनायी जाती थी। साथ ही साथ अनेक उपयोगी वस्तुओं को भी बनाया जाता था जिनका दैनिक जीवन में उपयोग किया जाता था।

❑❑❑

परिशिष्ट-चित्रविथि

दण्डिकालीन निम्न प्रतिमाओं का चित्र भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्राप्त है, जिनका यहाँ परिशिष्ट रूप में उल्लेख किया जा रहा है -



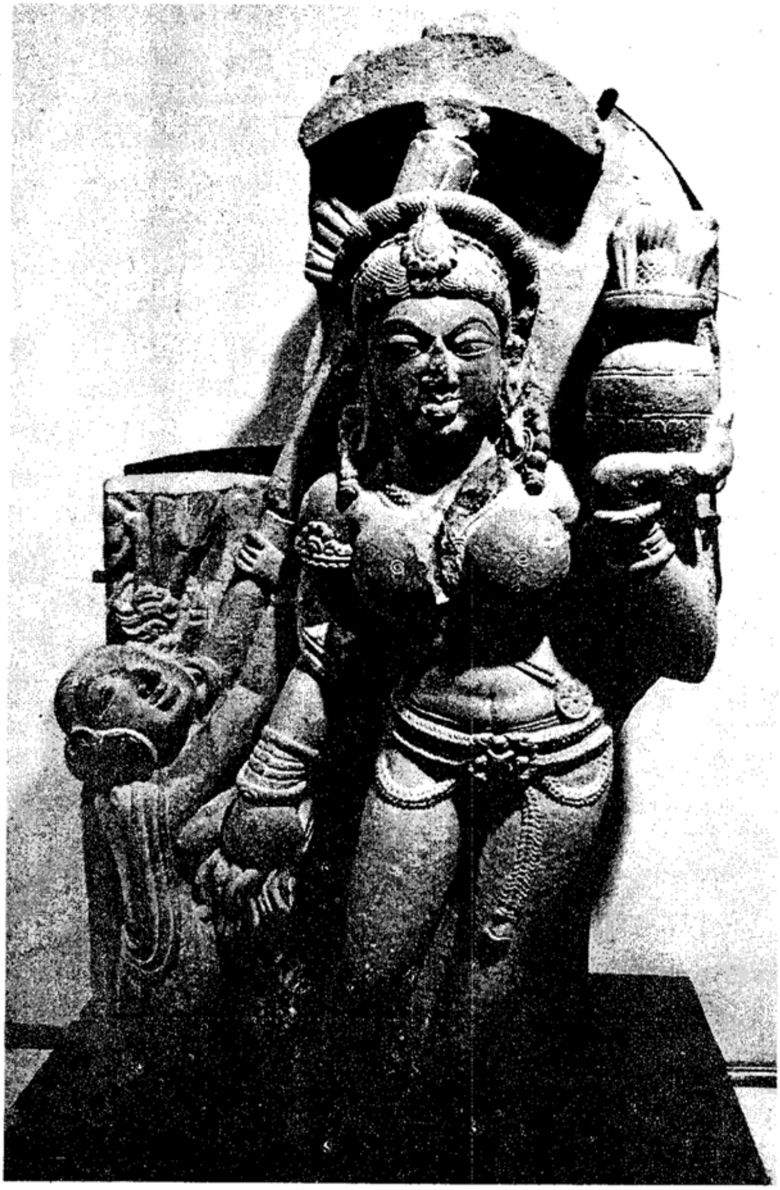
चित्र सं.- 1, पंजीकरण सं.- 153,
आठवीं शताब्दी की महिषासुर मर्दिनी दूर्गा प्रतिमा, चौखम्बा, वाराणसी



चित्र सं.- 2, पंजीकरण सं.- 158,
आठवीं शताब्दी की नृत्यरत गणेश प्रतिमा, वाराणसी



चित्र सं.- 3, पंजीकरण सं.- 160,
आठवीं शताब्दी की सूर्य प्रतिमा, आशापुर, वाराणसी



चित्र सं.- 4, पंजीकरण सं.- 163,
आठवीं शताब्दी की गङ्गा प्रतिमा, एटा, उ.प्र.



चित्र सं.- 5, पंजीकरण सं.- 183,
आठवीं शताब्दी की दूर्गा प्रतिमा, मथुरा



चित्र सं.- 6, पंजीकरण सं.- 205,
आठवीं शताब्दी की चामुण्डा प्रतिमा, वाराणसी



चित्र सं.- 7, पंजीकरण सं.- 184,
आठवीं शताब्दी की गरूड़ प्रतिमा, वाराणसी पुरातत्त्व विभाग, उ.प्र.



चित्र सं.- 8, पंजीकरण सं.- 21856,
आठवीं-नवीं शताब्दी की सूर्य प्रतिमा, पूर्वी भारत



चित्र सं.- 9, पंजीकरण सं.- 21866,
पाल शैली में निर्मित आठवीं शताब्दी की बुद्ध प्रतिमा



चित्र सं.- 10, पंजीकरण सं.- 22018,
आठवीं शताब्दी की वराह अवतार प्रतिमा, दाता श्रीनिवास गुप्ता



चित्र सं.- 11, पंजीकरण सं.- 22279,
आठवीं शताब्दी की घण्टाकर्ण प्रतिमा

सपना अशोक प्रकाशन
3/552, रामपुर, रामनगर-वाराणसी-221008
कार्यालय : बी036/777 कबीरनगर कालोनी, दुर्गाकुण्ड-वाराणसी

ISBN : 978-93-80344-02-7